UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180731

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 8:
B5/H4 Accession No. H

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

अशोक-वन-बन्दिनी

और

तीन गीति-नाटक

रचयिता

उदयशंकर भट्ट

१९५९

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा — दिल्ली

Paper supplied by M/s Agarwal Paper Mills Co. Ltd., at control rate

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

आसफअली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
माई हीरां गेट जालन्धर
लालबाग लखनऊ

मूल्य ३·००

गौरीशंकर शर्मा, भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित
एवं रसिक प्रिंटर्स, ५, सन्त नगर, करोल बाग, नई दिल्ली में मुद्रित

किंचित् वक्तव्यम्

नहीं कहा जा सकता इससे आगे मैं कोई और नाटक लिख सकूँगा। मुझे ऐसा लगता है कदाचित् यह मेरी नाटकों में अन्तिम कृति है।

"अन्तर्दर्शन तीन चित्र" में मैंने रावण, वैदेही तथा राम के कुछ विशेष क्षणों को आत्मचिन्तन रूप दिया है। उस समय वैदेही पर लिखते समय मुझे लगा जैसे वैदेही के ऊपर मुझे कुछ और लिखना चाहिये। 'अशोक-वन-वन्दिनी' उसी प्रेरणा का परिणाम है। यह पद्य नाटक है। वैदेही भारतीय जीवन में परम उदात्त चरित्र की अनुगामिनी है। उसने राम के पीछे छाया की तरह अनुगमन किया है, सुख-दुख, हर्ष-शोक में वह सदा उनके साथ रही है और राम के जीवन में जो बहुत सी घटनायें घटित हुई हैं उनका एक कारण वह स्वयं थी। राम के जीवन के बहुत से उतार-चढ़ाव उसी के कारण हुए हैं, फिर कभी ऐसा नहीं हुआ कि उसके कारण राम का उदात्त उत्कर्ष किसी भी तरह कम हुआ हो। एक प्रकार से उनके जीवन की मर्यादा पुरुषोत्तमता का कारण वह स्वयं थी। इधर वैदेही ने कष्ट भी कम नहीं भोगे। राज प्रासाद में पलने पर भी अनन्त असहायता-प्रभूत विवशता का दर्शन उसे करना पड़ा है। जीवन में जो उपालम्भ, लांछना, अपवाद एक नारी को मिल सकते हैं सभी उसे मिले। यहाँ तक राम के द्वारा भी उसे संदेह का भाजन बनना पड़ा, इतने पर भी उसका नारीत्व सदा अपूर्व तेजस्विता से दमकता रहा है। दुःख क्लेशिता होते हुए भी उसका अन्तर स्फटिक की तरह निश्चल एवं सत्य की तरह अनाच्छन्न रहा है और यही कारण है कि वैदेही का चरित्र अपने भीतर से निखरा है इसलिए उसने जन-जीवन के हृदय में अपना अक्षुण्ण पवित्र स्थान बना लिया है।

लिखते समय मेरे मन में कई बार यह विचार आया कि मैं इसे (वैदेही को) आधुनिकता का रूप दूँ, मानस विश्लेषण की दृष्टि से आधुनिक नारी के समान इसके हृदय में भी पाप-पुण्य के लिए अन्तर्द्वन्द की स्थिति पैदा करूँ जिससे वह अपनी चिन्तन धारा में रावण के रूप, बल, शक्ति-सामर्थ्य को भी कस सके। उसके प्रति नारीजनोचित सहज दृष्टि दे सके किन्तु मैं चाहने पर भी वैसा नहीं कर सका। मैंने पाया सीता का सामर्थ्य इतना विशाल, इतना व्यापक एवं इतना अदम्य है कि नारीजनोचित कमजोरी सीता में दिखाना उस चरित्र का अपमान करना है जैसे बुद्ध को किसी नारी के वश में करने की भावना या गांधी को किसी प्रलोभन के वशीभूत कर देना।

इतिहास में कुछ पात्र इतने ऊँचे पहुँच जाते हैं कि उनको नीचे उतार कर लाना अशक्य हो जाता है। वैदेही भी हमारे इतिहास का वैसा ही शिखरस्थ पात्र है। वह विवशताओं, परिस्थितियों मे पिसकर भी ऊपर ही ऊपर उठता रहा है। वहाँ चरित्र नहीं वे घटनायें हैं जहाँ कला सार्थक होती है।

'अशोक-वन-बन्दिनी' में भी घटना का ही उतार-चढ़ाव है।

'सन्त तुलसीदास' पद्य रूपक है। इसमें चरित्र की प्रधानता है। घटनायें वस्तुविधान इसमें नहीं हैं। तुलसीदास का चरित्र स्वयं इतना विद्रोही है कि घटनाये उसके पीछे चलती हैं जैसे सूर्य का उदय होते ही अंधकार अपने आप छँट जाता हो। यह उदाहरण देने का मेरा तात्पर्य यही है कि तुलसीदास के मानस विद्रोह में जैसे एक नई सृष्टि पहले से ही स्थिर है।

इसलिए इस रेडियो रूपक में तुलसीदास के अतिरिक्त, जिनका क्रान्तिकारी रूप अपने में पूर्ण होता है और कुछ नहीं है। तुलसीदास सागर की उस उत्ताल तरंग के समान हैं जो एक ही उत्क्षेप में गगन विचुम्बित हो उठती है।

तीसरा नाटक 'गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण' है। यह निरीक्षण द्रोणाचार्य के जीवन का सिंहावलोकन है। अपने अतीत के चलचित्र को देखते-देखते उन्हें लगता है कि जो कुछ काम उन्होंने किये उसमें स्वार्थ था, छल था, विवेकहीनता थी। यद्यपि उस ब्राह्मण ने बाहर से वैसा नहीं समझा। आश्चर्य की बात यह है कि हम अपने तर्क से जहाँ बुरे काम को शुभ मानते हैं और आत्मगत स्वीकार करते हैं वहाँ उसके लिए परम्परा में सामाजिक मान्यताओं को भी स्वीकार कर लेते हैं। महाभारत काल आत्मदंभ का काल था; सामाजिक संकीर्णताओं का समय था, द्रोणाचार्य भी उन्हीं संकीर्णताओं के शिकार हुए। उन्होंने अपने हर कार्य को विवेकयुक्त माना किन्तु अन्त में उन्हें लगा जैसे उन्होंने जो कुछ किया न धर्म था न न्याय्य ही। वे वैसे किसी सामाजिक शृंखला में बँधे चले जा रहे हैं जिसे छोड़ सकना उनकी शक्ति के बाहर है।

अश्वत्थामा द्रोणाचार्य ही का पुत्र है। इस नाटक में यह दिखाया गया है एक सदय, एक पंडित, एक ज्ञानवान् कितना क्रूर हो सकता है कहाँ तक नीचे गिर सकता है। पराजय की आग में झुलसते हुए अश्वत्थामा का रूप मनोवैज्ञानिक आधार पर कितना कुत्सित हो उठता है। वह भूल जाता है उसमें कुछ भी ज्ञान का कभी कोई अंश था, कोई भी विवेक का स्फुल्लिंग कभी उसमें चमका था। मनुष्य की प्रवृत्ति का क्रूरतम चित्र अश्वत्थामा है, जो न्याय मर्यादा का उल्लंघन करके एक दम वीभत्स हो उठता है। प्रतिहिंसा से उसका ज्ञान-शरीर-विवेक सब जल जाता है।

इस नाटक में वही एक छोटा सा चित्र दिया गया है। ये चारों नाटक एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी मनुष्य जीवन के चित्रण में सक्षम होंगे, ऐसी मैं आशा करता हूँ। ये नाटक निश्चित रूप से खेले जा सकते हैं। अभिनय की क्षमता होनी चाहिए।

—उदयशंकर भट्ट

२४५-ई, करौल बाग, नई दिल्ली-५
४ जनवरी, १९५९

पृष्ठ

१. अशोक-वन-बन्दिनो १
२. सन्त तुलसीदास ४७
३. गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण ७५
४. अश्वत्थामा १०६

अशोक-वन-बन्दिनी

[अशोक-वन में सीता को चारों ओर से घेरे राक्षसियाँ बैठी हैं। उद्यान का सुन्दर दृश्य]

जानकी

दुरभिसंधि पथ पर प्राणों के अश्व ये—
दुख की दुर्दम श्वासों की वल्गा बँधे—
खींच रहे हैं मेरा स्मृति रथ शून्य में,
लक्ष्य हीन उद्भ्रान्त न जाने कौन दिशि ?
कज्जल गिरि सा तिमिर हृदय के गगन में—
विश्वासों के तारक दल को पी रहा।
जाने कहाँ उड़े हैं किशलय आस के—
प्रिय की छवि की अनावृष्टि से सूखकर।
इस अशोक बन में शोकाकुल एक मैं—
शेष, पुष्प, तरु, लता, पवन के पंख पर—
नाच रहे हैं ताल बाँध आनन्द में।
जितनी ही जलती मैं दीपक की शिखा
उतनी ही आलोक मग्न उद्यान छवि।
इन बिहंगों के ही समान चलचित्त मम
उड़ता रहता है प्रिय के आकाश में।
लौटे पंछी साँझ पड़े लौटा न मन—
जाने किस थल, कहाँ गगन में खो गया ?

तन विषण्ण है, उत्पाती स्मृतियाँ चलित,
प्रिय की छवि को बाँध बाँध लाती पुनः,
किन्तु हृदय की अश्रु-सरित में डूबती—
देख न पाती हूँ अभीष्ट मन राम को।
साँसों की वीणा से निकले गीत वे—
सुन पाते यदि एक बार भी, जानती,
मेरी आशा के उज्ज्वल नक्षत्र में,
उनकी मुसकानों की आभा आ गई।
इस विशाल सागर का भी तो रोध है,
और गगन के छोर दिखाई दे रहे,
मेरे दुख का छोर न फिर क्यों दीखता—
मेरी आशा मिली तिमिर के सिन्धु में।

त्रिजटा

अरी जानकी, देख रही चिरकाल से,
तू विषण्ण रोती रहती दिन रात क्यों—
भूख-प्यास सब त्याग सतत चिन्ता मगन,
आत्मलीन, मन-दीन, क्षीण रहती सदा।
यह अशोक वन है रावण की प्रिय थली,
यह लंका का स्वर्ग, स्वर्ग भी हेय है।
सृष्टि प्राप्य तरु लता, वल्लरी कुसुम, फल,
मंडप, स्रोत, विहार, पुष्प, कुञ्जें, महल,
कौन वस्तु है जो न यहाँ सुप्राप्य हो,
ऋतुएँ सब रहती हैं पुष्पोद्यान में।

सिंचित करता वरुण, साफ करता पवन,
काल कलम करता, रस भरता सूर्य आ,
छाया करता मेघ, बिजलियाँ खेलतीं,
पुष्प पुष्प से तरु से मधुवन चूमकर।
सुना न देखा ऐसा कोई आज तक,
इस अशोक वन में भी आकर शोक मन।
किन्तु एक तू ही·····

जानकी

मेरा दुर्भाग्य है।

और कहूँ क्या—

त्रिजटा

अरे जानकी दुख न कर·····।

जानकी

शोक भाग्य में—

त्रिजटा

शोक न रोकर छूटता।
धीरज ही पी सकता विष की वारुणी,
धीरज से ही चन्द्र ग्रहण की कालिमा—
पीकर मुसकाता है जग के गगन में।
अमृत और कुछ नहीं गरल के पान का—
प्रतिगामी आनन्द, ज्ञान का बोध है,
अमा, पूर्णिमा दोनों ही सापेक्ष हैं,
यह दुख भी है सान्त देवि, धीरज धरो।

जानकी

त्रिजटे, तुम हो बड़ी, समझ में भी बड़ी,
किन्तु करूँ क्या, रुदन न यह मन त्यागता।
जैसे कोई छीन ले गया सत्त्व मम,
और पी गया मेरा जीवन-सुख-उदधि,
वह अगस्त्य है कौन, नहीं मैं जानती।

त्रिजटा

किन्तु शोक का हेतु न मुझको दीखता।
कर्म जगत में निराधार होता नहीं,
दीख रहा है मुझको तेरा अपहरण—
निर्मित करता सा भविष्य के चित्र को।
मरुभू में अज्ञात स्रोत जल का निकल—
अनायास बहता सा हम को दीखता :
किन्तु न जाने कितने युग से गर्भ में—
पृथ्वी के, बहने को आतुर था सतत।
अब दो ही हैं मार्ग तुम्हारे सामने—
रावण को स्वीकार करो या प्राण दो।

जानकी

अन्तिम बात तुम्हारी मुझको ग्राह्य है

त्रिजटा

इधर स्वर्ग है—

जानकी

यही नरक मेरे लिये ।

त्रिजटा

ऋद्धि-सिद्धियाँ चरण वन्दना हित प्रणत ।

जानकी

यह अकल्प्य है, यह अजल्प्य है, हेय है ।

त्रिजटा

तुम कर सकती नहीं कल्पना स्वर्ग की ।

जानकी

सखी, स्वर्ग से मृत्यु भली सुखदायिनी ।

त्रिजटा

होते हैं वे मूर्ख न अवसर जानते ।

जानकी

वही मूर्खतामम जीवन वरदान है ।

त्रिजटा

अस्वीकृति के कष्ट नहीं तू जानती ।

जानकी

तिल तिल जलना मुझको परम अभीष्ट है ।
मत कह, मत कह, मुझसे कर हूँ जोड़ती,
सुन सकने की क्षमता भी मुझ में नहीं ।

त्रिजटा

(क्रोध में)

भोग कष्ट, फिर भोग—

जानकी

वही आराध्य हो।

त्रिजटा

खड्ग तृषित है रावण का तव रुधिर को,

जानकी

इससे अधिक न सुखकर वह होगी घड़ी।
हाथ जोड़तो तेरे वह बानक बना,
शीघ्र समय आवे वह, ऐसा काम कर।

त्रिजटा

तू अभागिनी,

जानकी

परम भागिनी मैं सखी।

त्रिजटा

क्या मैं तेरी सखी ?

जानकी

मिली सौभाग्य से।
मुझको वर दे और यही आसीस दे,
मेरा जीवन उनकी स्मृति में पूर्ण हो।

(ध्यान-मग्न हो जाती है)

त्रिजटा

(स्वगत)

वज्र कील सी दृढ यह अपने प्रणय में
रामचरण में रत अनुगत-पति स्वप्न सी,
यह अखंड, अद्रव, अटूट, अच्छिन्न-मति,
इसे बदल सकना तो सम्भव ही नहीं ।
स्वर्ग हेय, अपवर्ग तुच्छ इसके लिये,
भाग्य रेख सी यह सीता अद्भुत, अमिट,
क्या ऐसी भी नारी होती हैं कहीं
ज्ञान कल्पना और ध्यान गति से परे ?

राक्षसी

(आकर)

यह दुष्टा है परम दंड की भागिनी ।

त्रिजटा

यह स्रष्टा की तपःपूत रचना अरी ।

राक्षसी

क्या कहती है राजाज्ञा विपरीत तू,
नहीं जानती इसका क्या होगा कुफल ?
मृत्यु दण्ड तुझको मुझको—

त्रिजटा

मैं जानती ।
समझ नहीं सकती तू मानव हृदय को
तू जड है अज्ञान-गर्विणी राक्षसी ।

जानकी

प्रम समर्पण में खिलता है प्राण के,
उज्ज्वल होता आत्मत्याग के निकष पर,
उज्ज्वलतर होता जाता वह विरह में ।
प्रेम अतनु है, शेष वासना से गलित ।
शलभ दीप पर न्यौछावर होता सदा,
रविशशि उसके लिये हेय, अज्ञात है ।

राक्षसी

(*जानकी से*)

मरने के दिन तेरे भी आये निकट ।

त्रिजटा

मरना सबको एक दिवस होगा अरी ।

राक्षसी

(*त्रिजटा से*)

बिना मृत्यु के माँग रही तू मृत्यु है ।

त्रिजटा

मुझे जानकी के हित वह भी स्वीकार है ।
जा, मैं आज्ञा देती हूँ जा, दूर हो,
त्रिजटा को है ज्ञात कहाँ, कर्त्तव्य क्या ?

राक्षसी

(*जाती हुई*)

पंख उगे हैं चींटी के, निश्चित निधन,

त्रिजटा

मर सकती यदि जनक-नंदिनी के लिये ।
कितना दुख है हाय, इसे मैं क्या करूँ ?
यह अबोध कलिका ग्रीष्मानल दग्ध है,
जलती है अपने प्राणों की आग में,
जलते इसके रोम रोम प्रिय विरह में ।
रावण ही क्या निखिल शक्ति ब्रह्माण्ड की,
इसको पथ से विचलित कर सकते नहीं ।
कोमल तन में दृढता है पाषाण की,
वज्र विनिर्मित मन, निर्मित तन कुसुम से ।
स्वर्ग हेय है इस अजेय के सामने,
गिरा मूक है, चकित ज्ञान है, चकित दृग,
क्या ऐसा भी सुना कहीं, देखा कहीं—
नारी का यह रूप, चाहते ही निखिल—
स्वर्ग सुखों की निधि चरणों पर लोटती ।
उठो, देवि, मैं समझ रही हूँ आज अब,
तुम न दानवी, तुम अमानवी जानकी,
जिनकी पत्नी ऐसी हो वे स्वयं वया,
कैसे होंगे, कितने बलशाली पुरुष ?
यही हेतु है शूर्पणखा विद्रूपिणी—
के भी काटे कान नाक भेजा उसे—
एक चुनौती देकर रावण के निकट ।

किसका साहस था कि अन्यथा राक्षसी—
रावण की भगिनी की करता गर्हणा,
औ' जीवित रहने की करता कामना,
यही हेतु था एकाकी उस राम ने—
मार भगाया खर दूषण का सैन्य दल
अनायास ही हँसते हँसते खेल में।

राक्षसी

(आकर)

सुनती हैं हम आज नई यह बात क्या—
सूर्य किरण चंदा की स्तुति में व्यस्त है,
करो अरी, पूजा लंका में राम की,
मंदोदरी हमारी रानी है नहीं,
और पढ़ो सीता की गीता रात दिन।
बोलो केवल राम नाम ही सत्य है।

(क्रोध में)

क्या कृतघ्नता की कोई सीमा नहीं,
घर फोड़ी त्रिजटा का, इसका नाश हो।
यह कलंक लंका की नारी का अमिट।

दूसरी राक्षसी

चलो सुनायें समाचार दरबार में,
कुल बोरी त्रिजटा है लंकानाशिनी।

त्रिजटा

जाओ, जाकर कहो जो कि कहना तुम्हें,
मैं छोड़ूँगी नहीं सत्य का पक्ष जो—

लिया, भले ही प्राण दान करना पड़े ।
यह अनुचित है घोर पाप है जो किया,
लंकाधिप ने पर-दारा का हरण कर ।
जाओ, जाकर कहो मुझे भय है नहीं,
पाप नहीं बनता कहने से पुण्य है ।

(नेपथ्य में रावण के आने का कोलाहल सुनाई देता है)

सावधान सब, लंकाधिप हैं आ रहे,
सावधान चर-अचर देव, गंधर्व हों,
सावधान दिक्, काल, पवन हों, वरुण हों ।
सावधान—

एक राक्षसी

भयभीत करो भय दो इसे ।
सीता को, मरणान्तक पीड़ा, त्रास दो ।

[सब मिलकर डराती त्रास देती हैं, कोई हिलाती है, कोई सिर के बाल पकड़कर खींचती है ।]

(नेपथ्य में)

आते साहस और धधकती लिये अहं की गुरुता,
आँखों में शासन की पुंजीभूत ज्वलन की प्रभुता ।

रावण

(प्रवेश करके)

हस्तामलक विश्व रावण को मुझसे शोभित शासन,
मैंने विनय नहीं सीखी है सीखा करना शासन ।

जो आज्ञा देता है, करता इंगित से संचालन,
मेरी भ्रू भंगी पर रचता काल नाश औ' पालन।
वही खड़ा चर अचर विधाता आज तुम्हारे आगे।
देखा मैंने एक बार हँस भाग उसी के जागे।
जीवन मिला उसी को जिसको मैंने अपनाया है,
श्वास सुरक्षित है उसके जो चरण-शरण आया है।
जो प्रतिकूल समुत्तर से ही पहले चल देता है,
और वंशधर के आँसू का काजल जल लेता है।
इससे अधिक भाग्य जिसका हो, सुना नहीं है कोई;
मेरी वज्रमुष्टि में दबकर स्वयं मृत्यु है रोई।
भूल समझ में आने का तो अवसर नहीं सुना है,
उसका सिर बचता है जिसने जीवन दान चुना है।
मैं ब्रह्माण्ड-चक्र-संचालक रावण हूँ एकाकी,
घूम रहे हैं मेरे चारों ओर असंख्य पिनाकी।
वही जानना चाह रहा है सुमुखि, चुना क्या तुमने,
करतल गत अनन्त वैभव है नहीं सुना क्या तुमने।
बोलो, स्वर्ग विधाता रावण संबल जग सभव का,
पूछ रहा है तुम से स्वामी भवका तथा विभव का,

जानकी

(कुछ देर चुप रहने के बाद)

सत्य ही क्या तू अनल सा दीप्त है,
गर्व भी तेरा पवन सा फैलकर,

दे रहा सुख शान्ति मानव प्राण को।
कौन सा है कर्म जिस पर ऐंठता,
अह का उद्घोष करता व्यर्थ ही।
पीटता जो ढोल अपनी कीर्ति का,
और बल पुरुषार्थ का, मद गर्व का,
शून्य है वह, सत्य ही उससे रहित,
बोलता वह पात्र जिसमें अल्प जल।
फूट झरना जो बहा गिरि से निकल,
सोचता है वह असीमित शक्तिमत
डुबा देगा जगत को निज वारि से।
जब कि भूधर वेग ही अवलंब है।

रावण

अरी त्रिजटे, नहीं बतलाया इसे,
महामहिमावान जग में श्रेष्ठ मैं।
पधारे लंकेश, साधारण न नर।

त्रिजटा

(घबराकर आगे बढ़ती हुई)
देव, यह सब .....

जानकी

.....जानकी को ज्ञात है,
ज्ञान बंदी, गर्व का गिरि सामने–
गा रहा है गीत निज अभिमान के।

खा रहा है जिसे उसका गर्व ही,
चाटता निज घाव को ज्यों श्वान हो ।

स्वयं अपने को बली वह मानता,
सुरासुर में चराचर में श्रेष्ठ कह ।
फिर विषमता कीट से अनुतप्त क्यों,
शान्ति पाता है नहीं उत्तप्त वह ।

साँप बिच्छू भी मनुज के काल है,
और यह नर सिंह का भी भक्ष्य है,
श्रेष्ठतर है क्या इसी से हिंस्र पशु—
और हैं उत्कृष्टतर भी वे सभी ?

काटती तलवार मानव का गला,
बेधता है तीर तन का अंत कर,
प्राण हर पाषाण, क्या ये श्रेष्ठ हैं,
मनुज से भी उच्च सृष्टि विधान में ?

सिंह भी बलवान है, गज कम नहीं,
और शूकर, व्याघ्र आदिक जन्तु भी,
पुंज बल के शक्ति के आगार हैं,
क्या इन्हें भी श्रेष्ठतर तू मानता ?

यह अहं औ' ठूंठ दोनों एक से—
जो न झुकना जानते पर टूटते,
शुष्क ईर्ष्या आग से जलते सदा,
क्षार होना ही विषम परिणाम है ।

जल रहा है इस तरह तू भी स्वयं,
गर्व की विषमाग्नि में तिलतिल सकल,
खा रहा है भय हृदय को, प्राण को,
प्राण को भय जन्य बल बहका रहा।

रावण

(अट्टहास करके)

अब तलक मैं जानता था रुदन ही,
जनक तनया का परम पुरुषार्थ है,
किन्तु अब जाना कि यह तो तापसी
बात करती दर्शनों की, ज्ञान की ?
मूढ, पंगु, समाधि में तप लीन जो,
क्या उन्हीं से यह सुना या राम ने—
ज्ञान की पाटी पढ़ाई है तुम्हें ?
पेड़ के नीचे शिला पर बैठकर ?

जानकी

नहीं, तू ही ज्ञान का आधार है,
दर्शनों का, वेद का ज्ञाता सुधी,
और सारा जगत् मानव मूर्ख है।

रावण

(हँसकर)

मुझे लगता है तपस्वी वेश धर
क्षीण, दुर्बल भूख से पीडित, जटिल,
राम ने ही दिया होगा ज्ञान यह,

निर्बलों को एक वाणी बल मिला ;
अन्यथा नारी—जनक की छोकरी—
कभी कर सकती प्रकट निज भाव को,
खूब है शुक पाठ भी यह राम का ?

जानकी

पाठ जिसको भी पढ़ाया राम ने,
भूल सकता वह नहीं आजन्म भी—
जन्मजन्मांतर कि कैसे राम हैं ?

रावण

(विवशता और क्रोध पीकर हँसता हुआ)
जानकर यह हर्ष रावण को अधिक,
तुम्हें दोनों ही मिले सौभाग्य से,
बुद्धि औ' सौन्दर्य दुर्लभ एक थल ।

जानकी

किन्तु यह दुर्भाग्य उसका जो सुने,
एक भी जिसमें न गुण विज्ञान, बल ।

रावण

वे महा मानव सदा ही पूज्य हैं,
कटुवचन सुनकर सदा हँसते रहें ।
(धीरे-धीरे कठोरता से)
जानना यह किन्तु भारी भूल है,
मैं विनिर्बल हूँ कि दुर्बल दीन हूँ,

हँस रहा हूँ मैं, समझ यम हँस रहा,
बोलता हूँ तो प्रलय ही बोलता ।
काँपता है विश्व मम भ्रूभंग पर ।

(क्रोध में)

तीलियों की तरह तारक तोड़ हूँ ।
जोड़ दूँ भू को गगन से जोड़ दूँ ।
चाहते ही विश्व का घट फोड़ दूँ ।
इस कड़ाही में भरा सागर सलिल—
पी सकूँगा चाहने पर सिन्धु को ।
कौन समता कर सका लकेश की,
क्रोध से ही पूर्व अरि का ग्रास मैं ।
अमृत है इस कर, अपर कर गरल है,
स्वर्ग है इस ओर रौरव दुख उधर,
विजय है इस कर पराजय अपर कर
क्या चुना है बोल, जीवन मृत्यु या ?

(रुककर)

जो कि अवसर को नहीं पहचानते,
और रेखायें मिटा सौभाग्य की,
अड़े रहते कुटिल हठ पर मूढ वे,
नासते हैं भाग्य का वैभव स्वयम् ।
लीक पत्थर की नहीं आदर्श हैं,
जो किसी ने बुद्धि-जड़ता से रचे ।
कामनायें भोगने के हित बनीं,

ज्ञान लचकीला सदा होता सही ।
पुष्प जो खिलता नहीं, हँसता नहीं,
निज सुरभि से मोद भर सकता नहीं,
पुष्प का अस्तित्व, खिलना व्यर्थ है,
व्यर्थ जीवन, व्यर्थ तरु की साधना ।
रूप औ' सौन्दर्य जीवन के लिये,
और जीवन भोगने के हित बना,
भोग ही सौन्दर्य का मधु फल अमल,
इसी से जीवन सफल होता सुमुखि ?
स्वर्ण में ही जटित मणि, शृंगार है,
कांचन का और मणि का योग है ।
किन्तु तेरा भाग्य लोहे में जड़े—
रत्न के सम व्यर्थ है, बेमेल है ।
सबल तरु पर लता का सौन्दर्य है,
जटित अंगद सुबल भुज में शोभते,
हार हीरक राजते सुग्रीव में,
चाँदनी छविमान पुष्पोद्यान में ।
सुबल भुज-तट में नदी बहती भली,
सुशोभित हैं प्राण शोभित देह में ।
सद्विचारों से क्रिया की सार्थता,
सुरा का सम्मान उसका पान है ।

जानकी

नित्य पुनरावृत्ति कर इस ग्रन्थ की,
क्या बुरा है और बहला ले हृदय ।

कब न जाने खड्ग से शृंगार हो,
कब न जाने मृत्यु ले जावे तुझे।

रावण

(क्रोध से भरकर)

देखता हूँ धृष्ट भी तू कम नहीं,

जानकी

खेद है तू समझ पाया देर से।

रावण

बचा सकता और कोई अब नहीं।

जानकी

कौन कहता मृत्यु से भयभीत मैं।

रावण

खड्ग ही निर्णय करेगा भाग्य का,
मूढ कालग्रस्त है तू जानकी ?
मिले जीवन क्यों, मरण हो प्रिय जिसे ?
खेलता है मरण तेरा खड्ग से।
नित्य भूखा प्रलय उससे झाँकता,
नित्य खुलते नाश के अध्याय हैं,
ग्रन्थ के संकेत के सुख सहज ही।

(रुककर)

स्मरण कर ले मूढ़ तापस राम को,
जो वनों में बुभुक्षित सा घूमता,
पूछता फिरता लता से, वृक्ष से,
बन्दिनी तुझ जानकी को शोक में ;

और रोकर, सुबुक कर, चीत्कार कर,
हिचकियाँ भर घूमता जो याद में,
स्मरण करले मूक, नत सौमित्र को,
पोंछता जो अश्रु रह रह राम के ।

जानकी

राम कैसे हैं तुझे यह ज्ञात है ।
स्वयंवर में शिव धनुष के भंग का—
वह समय, जब तू पसीना पोंछता,
और दुख की रेख माथे पर लिये—
विवश सा, विक्षिप्त सा, अनुतप्त सा—
रहा कातर देखता पौरुष प्रबल—
राम का, जब शिव धनुष तोड़ा गया ।

और खर दूषण अगिन सेना लिये,
युद्ध करने गये थे जब राम से ।

किन्तु यह है नहीं पौरुष राम का,
युद्ध द्वारा नाश जीवन सृष्टि का,
जीव का रक्षण, अभय यह सत्य दो,
इसी को पुरुषार्थ कहते राम हैं ।

"सभी निज निज धर्म का पालन करें,
सभी ऊँचे उठ सकें निज कर्म से,
सभी में जीवात्मा के प्रति दया" ।
यही है संदेश पावन राम का ।

रावण

(अट्टहास करके)

राम का संदेश मैंने सुन लिया,
राक्षसों का नाश उसका ध्येय है।
जब तलक लंकेश जीवित याद रख,
व्यर्थ होगा स्वप्न तेरे राम का।

(व्यंग्य से)

और जीवों पर दया, करुणा, क्षमा,
बहुत सुन्दर शब्द हैं छल छद्ममय,
निर्बलों के, स्वार्थियों के अस्त्र हैं,
व्यक्ति का पुरुषार्थ ही मूर्धन्य है,
शक्ति में विश्वास मेरा जन्म से।

जानकी

शक्ति उनकी ही भली है, धन्य वे,
जो विवेकी चाहते जग का भला।
जिया करते जो अपर का हित लिये,
सफल जीवन हैं वही सत् जीव हैं।
राम को सब जीव हैं प्रिय जानले,
मानवीय विधान को जो मानते,
'जियो, जीने दो' जिन्हें स्वीकार है,
राम को प्रिय, वे भले हों राक्षस।

रावण

(क्रोध में)

सीखना होगा मुझे यह ज्ञान भी,
एक नारी से, कि जो सौन्दर्य की—
चमकती जीवन शिखा है आग की।
सूर्य को दीपक दिखाने के समान,
मुझे बतलाना, जिसे सब ज्ञात है।

जानकी

मूर्ख का लक्षण यही है।

रावण

मूर्ख मैं ?
नाचती है मृत्यु तेरे शीश पर।

जानकी

सत्य है, पर शीश पर गर्दभ जहाँ,
अधिक उससे नर अभागा कौन है ?

रावण

सुन, मुझे अभ्यास सहने का नहीं,

जानकी

(रावण के वाक्य दुहराती हुई)

"वे महामानव सदा ही पूज्य हैं
कटुवचन सुनकर सदा हँसते रहे।"

रावण

तीन लोकों का विजय है खड्ग यह,
चिन्ह और प्रतीक मेरे दर्प का,
शान्त कर देगा तुझे बन व्याघ्र से—
बनचरी को भीत, क्षण के अंश में ।
ले सँभल—

जानकी

सन्नद्धशिर—

रावण

फिर सोच ले ।

जानकी

मृत्यु से हो भय जिन्हें, वे सोचते ।

(रावण खड्ग उठाकर मारने लगता है, उसी समय सहसा प्रवेश करके)

मंदोदरी

क्या करते हो, शौर्य इसी में रह गया,
यह अबला है—

रावण

विष इसके मुख में भरा ।
मरने दो, मरने दो, आगे से हटो,
लौट नहीं सकता अब पीछे खड्ग यह ।

मंदोदरी

लो, मेरा शिर नत है खड्ग प्रहार को ।
देख नहीं सकती मैं लांछित नाथ को,
कीर्ति कलंकित होगी लंकाधीश की ।
रोष तुम्हारा रामचन्द्र पर ठीक है,
इसमें सीता दोष नहीं है तनिक भी—
निरपराध को दण्ड, यही क्या न्याय है ?

(रावण किंकर्त्तव्य होकर क्रोध में)

रावण

मेरा यह निश्चय है पत्नी राम की—
वरण करेगी मुझे इसी के हेतु मैं—
हर लाया हूँ इसे, नहीं, अबला नहीं,
शूर्पणखा भगिनी के अंगच्छेद में—
इसका भी था हाथ उसी का दण्ड यह ।

मंदोदरी

मुक्त करो अबला को अबला अबध्य है ।

रावण

क्या यह अबला—

मंदोदरी

इसी हेतु अपहृत हुई ।

रावण

नहीं नहीं, यह रूपगर्विणी जानकी ।

मंदोदरी

इसमें इसका दोष ?

रावण

.....रूप ही दोष है ।

मैं अजेय, अभिराम विश्व में श्रेष्ठतम,
श्रेष्ठ व्यक्ति को सुन्दरतम की प्राप्ति का—

(दसों मुखों से बोलता है)

सतत्, निरंतर, त्वरित, शीघ्र औ' सदा ही,
जन्म, कर्म, बल, दर्प, शक्ति से स्वयं ही,
मिल जाता अधिकार, नहीं तू जानती ?

मंदोदरी

श्रेष्ठ व्यक्ति के गौरव के प्रतिकूल यह—

रावण

यह रावण के गौरव के अनुकूल है ।

मंदोदरी

जिसके चरणों पर वसुधा हो विश्व की,
इन्द्र, चन्द्र, रवि, मरुत्, वरुण, यम भृत्य हों,
एक तुच्छ नारी के प्रति यह मोह क्या—
कीर्ति कलंकित कर देनेवाला नहीं ?

रावण

मुझे कीर्ति की कोई भी चिन्ता नहीं,
वह रावण के भृकुटि भंग की भिक्षुणी।
लोक लोक के भय विह्वल मस्तिष्क में—
पहले ही से उसने आदर पा लिया।
अस्तु, सुनो, तू भी सुन दुष्टे जानकी ?
एक मास की और अवधि मैं दे रहा,
इसी बीच यदि तूने बदला मन नहीं,
तो तेरा बध निश्चित ही है जान ले।
इतनी दया, अनुग्रह इतना, बहुत है,
रावण का भ्रूभंग प्रलय आह्वान है।
प्रलय रोक ले और राम बध रोक ले,
क्षमा करूँगा प्रार्थित होते ही उसे।

(लौटता है। नेपथ्य में)

सावधान सब, लंकाधिप हैं जा रहे,
सावधान चर-अचर, देव-गंधर्व हों।
सावधान·····

वही दृश्य

(रात्रि का अन्तिम प्रहर : जानकी अशोक वृक्ष के नीचे बैठी है)

जानकी

हनुमान भी आये और चले गये,
आश्वासन दे गये मुझे खग्रास में—
ग्रहण मुक्ति का, किन्तु अभी आकाश में—
कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहा।
सूखे तरु में एक पुष्प सा था खिला,
सूखे सर में घन से कुछ बूँदें गिरीं,
प्रलय मेघ में एक झमक बिजली चली,
किन्तु न थिर रह पाई कोई आस ही।
बीत चुके हैं दिन आश्वासन के सभी,
बीत चुकी हैं रातें आँखों में उलझ,
पल पल जो आते सब करते व्यंग्य हैं,
व्यंग्यों के अंगार सह रहे प्राण हैं।
इस लंका के दिन भी लम्बे हो गये,
जो न प्रतीक्षा की कैंची से कट रहे।
मुझे लीलती जाती काली रात है,
प्रहर घड़ी घहराते घन से प्राण पर।
खिल अशोक के पुष्प कहानी कह गये,
कलियाँ सुनकर खिलीं और मुरझा गयीं,

किन्तु न मेरी कथा-व्यथा का अन्त है,
मैं अपने से जूझ रही अनबूझ पथ।
नहीं कहीं क्या औषध है इस रोग की ?
अन्त हीन है व्यथा प्राण-विद्रोहिणी।

क्या मैं पैदा हुई यातना गर्भ से—
दुःख पिता की पुत्री, कष्ट शरीर ले,
क्रूर भर्त्सना लाई लिखा ललाट में,
ताकि अन्त में रौरव में जाकर मिलूँ ?

अब न सहा जाता यह दुख अंगार सा,
बिखर गये विश्वास, प्राण संबल हिले,
चारों ओर अपार तिमिर घहरा रहा,
कहीं किनारा नहीं दुःख के उदधि का।

(*रुककर*)

फूलों के मिस मांस खंड गिरते सदा,
रक्त धार गिरती वर्षा के स्थान पर,
और तोड़ती नस नस गिर गिर हड्डियाँ—
किन्तु नहीं ये कष्ट, विरह यदि दूर हो।

(*दो राक्षसियाँ आकर*)

एक राक्षसी

जाग रही है लगता यह सोई नहीं।

दूसरी राक्षसी

मैंने सोते कभी नहीं देखा इसे।

पहली राक्षसी

यह पत्थर है इसे व्यापता भय नहीं ।

दूसरी राक्षसी

यह जड है इसमें बस, साँसें जागतीं ।
इसे डरायें क्या, धमकायें क्या बता ?
हार गईं हम क्रोध, दमन सब व्यर्थ है ।

पहली राक्षसी

मेरी साँसें फूली इसको खींचते,
औ' झँझोड़ते, धमकाते, धिक्कारते,
डरती ही यह नहीं मांस से, रुधिर से,
किसी तरह भी वश करना इसको कठिन ।

दूसरी राक्षसी

साँप और बिच्छू से इसको डर नहीं,
सिंह-व्याघ्र से, क्रूर-जीव से, आग से,
शूल चुभोओ या जलते अंगार दो,
कोई भी फल पीड़ा का होता नहीं,
मानो मुर्दा एक पड़ा हो भूमि पर ।

पहली राक्षसी

हृदय किया मैंने पत्थर से भी कड़ा—
नये बनाये-कौन न रूप डरावने,
भय दिखलाये कौन-कौन इसको नहीं,
सहती पीड़ा कठिन बोलती तक नहीं ।

होता कोई और प्राण तन छोड़ते,
पर यह इतनी ढीठ असर होता नहीं।

दूसरी राक्षसी

बोलो अब क्या करें कहाँ तक दंड दें ?

दोनों राक्षसियाँ

कभी कभी मेरा कठोर मन पिघलता।

पहली राक्षसी

ऐसा कोई जीव नहीं देखा अरी —
जिसे मौत से भी डर लगता न हो।

दूसरी राक्षसी

बिना आँख झपके सहती यह यातना,
उफ तक करती नहीं, न जाने कौन है ?
त्रिजटा ने जो कहा ठीक लगता मुझे,
इसे न कोई शक्ति बाँध सकती कभी।
लगता है धीरज, सहिष्णुता देह धर—
आन बसे हैं इसकी पत्थर देह में।

दोनों मिलकर

(क्रोध में चिल्लाकर तंग करती हुई)
ले मर, ले मर, मौत नहीं आती इसे,
हाय, हाय, हम बतलाओ अब क्या करें।

पहली राक्षसी

चलो कहें हम हार गईं, कुछ बस नहीं—
चलता और हमारा·····

दूसरी राक्षसी

.....कहती सत्य तू ।
हार गईं हम सौ सौ करके यत्न भी,
डर लगता है अब तो इसको देखकर ।

पहली राक्षसी

अरी मुझे तो आता है इस पर तरस,
इतना सुन्दर रूप,.....

दूसरी राक्षसी

वज्र सा तन मिला ।
मुझे खेद है अपने ऊपर क्या कहूँ ।

पहली राक्षसी

चलो कहें, हम हार गईं अब बस नहीं ।

दूसरी राक्षसी

हाँ हाँ—

पहली राक्षसी

हाँ हाँ—
चल तू चल,

दूसरी राक्षसी

तू चल न फिर ?

(चली जाती हैं । त्रिजटा आती है)

त्रिजटा

गईं राक्षसी चली गईं अब ठीक है।
राजाज्ञा पाकर जो देती कष्ट थीं।
हार गईं लगता है अपने आप से।

(*जानकी के निकट आकर*)

अरे, जानकी के शरीर पर घाव हैं,
रुधिर बह रहा है हाथों से, पीठ से,
अंगारों के दाग दिखाई दे रहे,
सूज रही है पीठ हाय मैं क्या करूँ ?
करती हूँ उपचार ठहर जा, जानकी ?
वत्से, कितना कष्ट दिया तुझको गया।

जानकी

रगड़े जाने पर ही हीरक चमकता,
तपने पर ही होता कांचन शुद्ध है,
प्रेम गहन होता है जलते प्राण में,
यही लिखा लाया है प्रेमी भाग्य में।

त्रिजटा

मैं न जानती दो तन के संयोग से—
अधिक प्रेम की और कल्पना क्या सुखद,
भूख लगी खाया फिर पाई तृप्ति भी—
यही प्रेम है इसी प्रेम को जानती।

जानकी

प्रेम देह का नहीं प्राण का योग है,
और चमकता है अधिकाधिक कष्ट पा,
आज मुझे लगता है सब कुछ तुच्छ है,
स्वर्ग और अपवर्ग राम के सामने।
जैसे मेरे प्राण एक उनके लिये,
मेरे पूरक वे उनसे मैं पूर्ण हूँ।

त्रिजटा

किन्तु राम भी क्या ऐसा ही मानते ?

जानकी

मुझे जानने का यह अवसर नहीं।
मैं क्या जानूँ मैं अपने को जानती,
एक कामना एक यही है चेतना,
उनमें मिल कर अपने को पूरा करूँ।
मैं भिखारिणी नहीं किसी प्रतिदान की,
मेरा अपना देय स्वच्छ है, स्वस्थ है।
उनकी वे जानें, मैं जानूँ क्या उन्हें,
इतना ही सीखी हूँ जीवन-ग्रन्थ से।

त्रिजटा

क्या विनिमय के बिना प्रेम होता कहीं ?

जानकी

ऐसा भी होता होगा संसार में,
किन्तु राम के बिना मुझे सब शून्य है,

मेरे मन की तुष्टि पुष्टि हैं एक वे ।
रोम रोम में अंकित है यह भावना,
रोम रोम में अंकित है प्रतिमा वही ।
भूखे को भोजन सम मेरी वृत्ति है,
मैं जितनी ही रमती उनकी मूर्ति में—
उतनी ही बढ़ती जाती है प्यास भी,
मेरे मन में प्रतिविम्बित है वही छवि ।
खोज न पाई हूँ इस रस का अन्त ही,
जान सकी हूँ नहीं आज तक तृप्ति क्या,
जैसे वे है श्वास और मैं देह हूँ ।
शक्ति वही हैं जैसे मेरी देह की,
है अस्तित्व उन्हीं से मानो प्राण का ।
मेरा तन-रुह उनके रस से पनपता,
हरित, पल्लवित, पुष्पित मैं उनसे सखी,
इसी लिये तू चिन्ता मत कर कष्ट की ।
मुझे फूल हैं दिये गये जो शूल हैं ।
शूल प्रेम की रग पी बनता फूल है ।
फूल फूल है कष्ट--

(ध्यानस्थ हो जाती है)

त्रिजटा

लीन फिर हो गयी ।
डूब गई फिर लगता उनकी याद में ।
भूल गई अपने शरीर के कष्ट भी ।

क्या ऐसी भी आत्मा है इस सृष्टि में ?
क्या ऐसा भी सम्भव है संसार में ?
मेरे चेतन के स्तर जैसे खुल रहे,
दीख पड़ रहा मुझे आज नूतन जगत।
प्रेम जो कि थी एक पहेली आज तक,
देखी उसकी मूर्ति जानकी, धन्य मैं ?
(शरीर में वन पत्तियों का लेप करती हुई)
पुष्प सुरभि सा भार-हीन तनु हिम-धवल,
कितनी कोमल स्निग्ध चाँदनी देह है ?
अगुरु-धूम सी लहराती अलकावली,
और प्रतीक्षा से लम्बे घन-केश हैं।
चिन्ता सी गुलझटें, दुःख सी म्लान रज,
अभिषिंचित करता है जिनको स्नेह पति,
पथ भूले मानव से बिखरे केश ये ;
स्मृति सा भाल चमकता हिम के पट्ट सा,
भूत भविष्यत् सी धूमिल हैं भौंह ये।
वर्तमान सा दो भोहों में तिलक है।
निश्छल आँखें प्राणों के दो कक्ष सी—
लहराती है जिनमें मद स्रोतस्विनी।
मानों छवि के दो तालों में झाँकती—
सत्य और शिव की कल्याणी मूर्तियाँ।
अमृत स्नात पलकें ये बंदनवार सी—
सात्विकता के सौरभ न्हाई हुई।
ग्रहण-त्याग दो सत्य सरित पर सेतु सी,

भुकी होड़ करती होठों से नासिका ।
ज्ञान क्रिया के संपुट से हैं होंठ दो ।
मानों सारी देह व्योम-मंदाकिनी-
सी, आनन्द तरंगों सी लहरा रही ।
प्रिय चिन्तन में स्मृति के अम्बुज सी अमल,
जहाँ सतोगुण ने अपने परिवेश में—
मुक्त कर दिया इसको प्रकृति ललाम सा ।
कितना क्रूर विधान काल के चक्र का,
कुचल रहा अधखिली कली को दाँत से ।

जानकी

(जागकर)

कष्ट मुझे है नहीं तनिक भी हे सखी,
मेरा मन अनुरागी उनके प्रेम का ।
स्मृति माला में मन का मनका फेरती,
मैं सुख पाती छवि-आकाश-विहंगिनी ।

त्रिजटा

क्या आशा है तुम्हें कि वे आ जायँगे ?

जानकी

डोर प्राण की उन प्राणों से बँध रही,
वही मृत्यु से खींच रही रह रह मुझे ?

त्रिजटा

स्वप्नों से मीठा होगा वह कौन दिन ?

जानकी

जिस दिन स्वप्न बनेंगे मेरे जागरण ?

त्रिजटा

(घबराकर)

अरे, महारानी आती मंदोदरी ?

मंदोदरी

(प्रवेश करके)

क्या निश्चय है कहो तुम्हारा जानकी ?
हमने सुना तुम्हीं ने सीमा लाँघ कर·····

जानकी

सीमा लक्ष्मण की लाँघी थी, भूल वह ।
समझा था भिक्षुक है, भिक्षा धर्म था,
आर्य-धर्म का पालन ही मैंने किया ।

मदोदरी

रथ पर बैठी, नहीं प्राण क्यों दे दिये ?

जानकी

जीना मरना क्या मनुष्य के हाथ है ?
तुमसे मेरी एक यही अब प्रार्थना,
मुझे मृत्यु दो, इस शरीर से मुक्ति दो ।

मंदोदरी

(ताने के साथ)

मै होती हूँ कौन,

जानकी

·····बचाया क्यों मुझे ?
मरने देती खड्ग धार से लिपट कर ।

मंदोदरी

मुझ को है यह खेद·····

जानकी

·····खेद है मुझे भी ।
दया तुम्हारी निर्मम मेरे हित हुई ।

मंदोदरी

रौरव बना दिया मेरा घर जानकी ।

जानकी

नहीं जल रही क्या मैं रौरव में स्वयं ?
क्या मैंने चाहा था ऐसा हो सखी ?
कहो, मुक्त कर दे दोनों का हित यही ?

मंदोदरी

बाँध चली आई क्यों गठरी रूप की,
आग लगा दी तूने मेरे महल में ।
जलता है मेरा घर धूँ धूँ जल रहा,
नहीं चैन है, नहीं कहीं विश्राम है ।
हार थकी मैं सभी तरह समझे न वे,

तेरे हाथों लंका का कल्याण है ?
मैं कर सकती त्याग·····

जानकी

·····त्याग क्या यह अरी,
आज त्याग की बात सूझती है तुझे,
त्याग स्पृहा से हीन शुद्ध होता सखी,
पहले से ही करती इतना त्याग जो—
और समर्पित करती अपने को प्रथम,
मिलती पति को तृप्ति, पूर्णता प्रेम की,
प्रश्न न उठता फिर इस दिन के त्याग का ?
पति चरित्र की दृढता पत्नी में निहित,
कमजोरी पत्नी की पति का अहित है ।
नारी को क्या तू साधारण मानती,
वह अजेय अज्ञेय शक्ति की स्वामिनी ।
भ्रूकटाक्ष से विह्वल जिसके निखिल जग,
और नाचते संकेतों पर सुर, असुर,
रूप मोहिनी से जिसके पागल सकल,
वही चाहने पर क्या कर सकती नहीं ?
नारी ने ही सृजन किया है पुरुष का,
पुरुष-अश्व की वल्गा है नारी अभय ।
वही रुद्र को शिव करती बन पार्वती,
वह शतरूपा मनु की सृष्टि विधायिनी ।
वही मोड़ सकती पशुत्व देवत्व में ।

सर्वमंगला नारी का ही रूप है ।
वही शिवा है, वही भवानी, चंडिका,
दुर्गा है वह खल-नर-अहं विमर्दिनी ।
कौन कर्म है जो उससे सम्भव नहीं,
तू समर्थ है चाहे रोक विनाश को,
युद्ध अग्नि में बलि लंका की रोक ले,
रोक रोक, यदि रोक सके मंदोदरी ?

मंदोदरी

(उर्जस्वित होकर)

सचमुच क्या मैं इतनी शक्ति ज्वलंत हूँ ?

जानकी

पावक में तू ज्वलन दाहिका शक्ति है,
तू ज्योत्स्ना है अमल चन्द्र की स्वामिनी,
वेग पवन में, घन में बिजली की कशा,
मानव मन में रति, तू क्रोध तरंगिनी,
सृष्टि कामना में विरंचि की बुद्धि तू ।
तू विनाश, तू पालन, सृजन विहारिणी !

मंदोदरी

काव्यों की सी बातें लगतीं ये मुझे,
रोचक हैं मोहक यथार्थ से दूर पर ।
अर्पण हमें विवश होकर करना पड़ा,

हम रह सकती नहीं पुरुष प्रतिकूल हो,
वह समर्थ है तन से, मन से, बुद्धि से।

जानकी

स्वीकृति यह निर्बलता की है भूमिका,
स्वीकृति अपनी क्षमता का अपलाप है।

मंदोदरी

कभी राम ने क्या प्रतिकूल नहीं किया ?

जानकी

उनके मेरे दो मन चिन्तन एक है।
प्रतिबिम्बित होती रहती है चेतना।
वहाँ समर्पण मेरा उनका एक ।
कर्म एक, विश्वास एक होते जहाँ,
दो शरीर में बहता जीवन एक बन।
स्पंदन जीवन का दोनों में एक ही—
होता सृजन वही मानव कल्याण का।
वहाँ पुरुष में सत्ता का मद छीजता—
नारी के पोषक तत्त्वों की शक्ति से।
यही तथ्य है नर-नारी के सृजन का।
धर्म, अर्थ औ' काम, मोक्ष ये चार पद—
नर नारी दोनों के द्वारा पूर्ण हैं।
वर्षा कर पोषक तत्त्वों की धार की—
डूबे रावण तेरे स्नेह समुद्र में।

डूबे उसका 'अहं' खड्ग सा तीक्ष्ण जो—
दानवता कर दूर सही मानव बने।

मंदोदरी

(अभिभूत और आश्वस्त होकर)

अब न खेद है मुझे, बचाकर तुझे री,
धन्य हुई मैं, ज्ञान नेत्र मेरे खुले।
कितना अच्छा होता यदि होता वही—
जो कुछ तूने कहा और मैं योग्य बन—
भरती अपने स्वामी में यह भावना।
किन्तु निबल मैं प्रबल गर्व-विष-धर प्रखर—
वही रहेगा होकर जो तूने कहा।

जानकी

'युद्ध अग्नि में बलि लंका की सुनिश्चित,
रोक रोक, यदि रोक सके मंदोदरी !'

मंदोदरी

(आकाश की ओर देखकर, ध्यान लीन सी)

दीख रहा है तेरी वाणी कर्म बन—
दग्ध कर रही है लंका के हृदय को।
धूँ धूँ करके जलते हैं उत्तुंग गृह,
सौध-शिखर, आवास, राजगृह, मंदिर,
वज्र कील सी नियति हँस रही व्यंग्य से,
लील रही है प्राण प्राण के स्वप्न को।

और देखती हूँ मैं, अनल-पिशाचिनी—
ज्वलन दाढ़ में अग्निवाढ़ का रूप धर,
प्रलय प्रकंपित निगल रही है जगत को,
रोक सकूँगी कैसे यह संकट विकट ?
रोक सकूँगी कैसे लंका दाह को ?
भस्मावृत सब दीख रहा है देश यह ?
एक व्यक्ति जिसका आकर दहला गया,
स्तब्ध, विमूर्छित, जड़ जीवन को कर गया,
सारी लंका को विदेह कर निमिष में,
एक निमिष में धूलिसात साहस किया ।
काँप रहा है जिसके डर अब भी हृदय,
है अनुमानातीत स्वामि की शक्ति पर—
वक्र नियति है तू लंका की जानकी !

जानकी

वक्र नियति है 'अह' दशानन का प्रखर,
मदोन्मत्त वह अपना स्वयं विनाश है ।
रोक सके तो रोक सृष्टि विस्फोट को—
केवल तुझ में वह क्षमता मंदोदरी !

मंदोदरी

क्या सचमुच मुझ में वह क्षमता अंश है ?

जानकी

अगिन शक्तियों का नारी में वास है,
कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है मानव से यहाँ ।

वही राक्षस, वही मनुज है, देव है,
वही ब्रह्म है, सत्य सच्चिदानन्द है,
वही शान्ति है, वही युद्ध है, प्रलय है,
कौन शक्ति है जो नर के वश में न हो ?
वही मेट सकता है लिपि भी भाग्य की—
वही बना सकता है रौरव स्वर्ग भी !

मंदोदरी

क्या तुझको निश्चय तेरे पति आयेंगे ?

जानकी

प्राण-वाक् से विरह बुलाता है उन्हें ।

मंदोदरी

वक्र नियति भी शुभ हो यदि तू जानकी—
लंका के हित प्राण त्याग करदे सखी !
मार्केश है क्रूर ग्रह है एक तू ।

जानकी

क्या मेरे हैं प्राण इन्हें तज दूँ, मरूँ ?
बिना राम के देखे, आज्ञा के बिना ?
मृत्यु बुलाने पर भी मुझसे दूर है ।
मैं तो उनकी मेरा अपना कुछ नहीं,
वे ही जीवन, जीव्य, श्वास, विश्वास, बल,
वे ही वन्दन, वन्द्य बन्धु आराध्य हैं,
वे ही साधन, साध्य, सिद्धि हैं प्राण के ।

वे ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय हैं रोम के ।
वे ही ध्याता, ध्येय, ध्यान हैं प्राणधन ।
मैं तो कुछ भी नहीं एक प्रतिबिंब हूँ,
चलित लहर हूँ वे समुद्र, वे पवन-गति,
जो कुछ चाहा वैसी ही मैं बन गई,
मेरी जीवन नौका के हैं डाँड वे ।

मंदोदरी

क्या सचमुच सायुज्य शक्ति तू राम की ?
धन्य हुई मै तुझ सी नारी देखकर,
सार्थक मेरा जीवन पाकर हो गया ।
जाती हूँ मैं कुछ भी पति हित कर सकी—
तो यह मेरा जीवन होगा धन्य ही ।
सचमुच तुम हो धन्य जानकी धन्य तुम,
धन्य अयोध्या, मिथिला की भू-पूत है,
धन्य जनक जननी हैं श्वश्रू, श्वसुर, पति ।
वर दो मुझको मैं पति का हित कर सकूँ,
वर दो, वर दो, देवि, प्रणत अनुगत सतत ।

(पैरों पर गिर जाती है।)

समाप्त

सन्त तुलसीदास

प्रथम सूत्रधार

यौवन के उन्माद सरोवर में उतर—
कौन विज्ञ है जो उसमें डूबा न हो।
कौन प्राण की वर्चस्वी आहुति गिरा—
मूलज्ञान का अंकुश अपने आप ही—
तन से, मन से, संस्कृति से, संस्कार से—
आत्म-विमूर्छित हुआ न हो, वह कौन है ?

द्वितीय सूत्रधार

इसी तरह अभिराम रामबोला युवक—
नरहरि से समधीत शास्त्र भी अज्ञ सम—
निज पत्नी रत्ना के रूप विलास में—
आत्मज्ञान की आहुति दे बेसुध हुआ ;
भूल गया व्यवहार लोक-विज्ञान सब,
भूल गया शास्त्रों की बातें ज्ञान की।
भूल गया सम्बन्ध निकट के, दूर के—
नारी आराधन में चिन्तन, मनन में,
भूल गया इस जग में कुछ भी और है ?

प्रथम सूत्रधार

उत्कट थी उन्माद विलासी वासना—
उत्कटतर थी सौन्दर्य की शृंखला,

उत्कटतम थी आत्म-समर्पण भावना ।
उसे न था कुछ ज्ञान विश्व में और कुछ,
केवल पत्नी के मुख के सौन्दर्य में,
अहो रात्र वह मानस का सुख मान कर—
डूबा रहता बेसुध उसके रूप में ।
सभी चकित थे विस्मित कौतुक से भ्रमित—
हुआ इसे क्या, ऐसा भी क्या व्यक्ति है ?
देख रामबोला की पत्नी-दासता—
निन्दा करते लोग, कभी अपमान भी ।
पर वह अपने परम-ध्येय में मग्न था,
सौन्दर्य में ग्रहाविष्ट सा मूढ़तर ।
पत्नी भी थी दुखी किन्तु वह विवश थी,
भाई आये कई बार लेने उसे—
भेजा पति ने रत्ना को फिर भी नहीं ।
किन्तु अन्त में एक बार आज्ञा बिना—
चली गई चुप-चाप पिता के गेह वह ।

द्वितीय सूत्रधार

देखा घर छवि-हीन लौट कर युवक ने,
म्लान-मना, उद्भ्रान्त, क्लान्त, विह्वल हुआ ।
खोकर सब कुछ निरालंब वह हो गया,
विरह-वेदना जागरूक मन में हुई ।
खींच लिये हों प्राण स्वर्ग सुख किसी ने,
जड़ विमूक निस्वन तन मन वह हो गया ।

पहली सखी

हे सखि, क्या रत्ना आई है
तुमने तो देखा ही होगा।

दूसरी सखी

हाँ हाँ, वह तो सखी पुरानी
शैशव की साथिन है मेरी,
धड़क रही है छाती अब तक
वज्रपात हो गया सखी पर।

पहली सखी

वज्रपात, यह क्या कहती हो,
कहो कुशल तो है रत्ना की।

दूसरी सखी

(आह भरकर)

कुशल कुशल तो बात दूर की,
साधारण भी उसे कहूँ क्या—
रो रो कर आँखें सूजी हैं
छोड़ दिया है अन्न और जल,
गुम-सुम चुप-चुप तड़पा करती
मछली सी, रत्ना की गति यह।

पहली सखी

किन्तु हुआ क्या, हम भी तो
कुछ सुनें, कहो तो !

दूसरी सखी

बात नहीं कुछ, सदा हुआ करता है ऐसा

पहली सखी

भेंट नहीं हो सकी सखी से,
कहो कहो क्या अघटित घटना—
मेरी तो चिर बन्धु सखी है,
वज्रपात क्या हुआ सखी पर।

दूसरी सखी

यह तो है अज्ञात न तुमसे,
आई नहीं आज तक जो घर,
यद्यपि यत्न अनेक हुए हैं
यद्यपि उसे बुला लाने को
कई बार भाई भी पहुँचा .....

पहली सखी

हाँ हाँ, यह भी क्या अनजाना,
और कदाचित्, पर क्या कारण ?

दूसरी सखी

कइ बार आकर लौटा है
रत्ना का भाई उस घर से
नहीं चाहते स्वामी उसके,
उसे भेजना माता के घर।

पहली सखी

तो क्या वह है क्रुद्ध श्वसुर से,
या कोई अपराध हो गया ?

दूसरी सखी

(हँसकर)

अरी नहीं, पति की प्यारी है,
है असह्य उसका विछोह सखि ?

पहली सखी

जिसको इतना प्यार करे पति,
उस रमणी-सुख का क्या कहना ?
वही भाग्यशाली वनिता है
जो पति को प्यारी होती है।
अच्छा-अच्छा, कहो कहो, फिर।

दूसरी सखी

फिर भी सीमा तो होती है
माता-पिता अत्यधिक दुःखित
अब की बार बिना अनुमति के
रत्ना चुप चुप यहाँ आ गई।

पहली सखी

जैसे को तैसा होता है
यह तो महा अनय है सचमुच ?
पत्नी है यदि वह उनकी तो
कन्या भी तो किसी पिता की।

दूसरी सखी

रत्ना को ले आया भाई
बात यहीं तक नहीं रही है।

पहली सखी

तो क्या पीछे वह भी आया
यह तो सचमुच बुरी बात है।
ऐसा भी क्या प्रेम निगोड़ा !

दूसरी सखी

हाँ, वे दौड़े दौड़े आये,
भूखा हो कोई बरसों का,
भाई, भौजाई, माँ बहनें और
पिता भी दुखी हो उठे।
एक दिवस भी रह न सकी वह
सुख स्वच्छन्द पिता के घर में।
कल ही तो रत्ना आई थी
और आज वे आप आ गये।
शर से विद्ध हरिण सा व्याकुल
लज्जाहीन वासना पीड़ित,
शफरी सा चंचल अति उत्सुक
रत्ना की छवि का मधु लोभी।

पहली सखी

देख उसे उत्तप्त हो उठा
क्या परिवार सभी रत्ना का ?

दूसरी सखी

आदर दिया सभी ने संभ्रम
सत्कृत हुए सभी परिजन से।
क्या न जानती जामाता भी
एक विकट ग्रह के समान है।
नहीं निगलते बनता है वह
नहीं उगलते बनता है वह—
बिना कहे बिन बोले उसने
रत्ना को आबद्ध कर लिया।
लज्जा से गढ़ गई देख यह,
रत्ना अपने पति को उस क्षण,
जैसे उसका शील खो गया
लज्जा बसन उतार लिया हो।
इधर पिता भी दुख में डूबे
लज्जा से गढ़ गये, लोकजन,
धिक्कारेंगे कितना मुझको,
देख जमाई का यह नाटक।
कह न सके वे कुछ भी मुख से,
म्लान खिन्न माँ थी रत्ना की।

पहली सखी

यह तो सचमुच वज्रपात है
नारी के सौजन्य शील पर।

फिर क्या हुआ ले गये उसको,
विदा करा कर रत्ना के पति ?

दूसरी सखी

बोले पति–

तुलसी

"प्रियतमे, चलो, अब
है असह्य यह विरह तुम्हारा ।
सारा जग यह शून्य हो गया
बिना तुम्हारे जीवन संगिनि !
शून्य श्वास है, यौवन सूना,
जीवन सूना, आशा सूनी,
यह चकोर सा जन अनुरागी
चन्द्र-मुखी, तब दर्शन का है ।
तृप्त करो यौवन मद देकर,
प्राण प्रियतमें में अतृप्त हूँ
बिना तुम्हारे घर सूना है
रातें भाँय भाँय करती हैं ।
शून्य दिशायें, शून्य कक्ष हैं,
शैया शून्य प्राण की दाहक ।
जीवन सार्थक करो चलो अब,
तुम्हीं श्वास हो, तुम्हीं आस हो,
परिभाषा हो तुम जीवन की
संभाषा हो, अभिलाषा की"

सखी

और बोलते चले जा रहे थे
कि रोक कर रत्ना बोली,

रत्ना

"यद्यपि तुमको लाज नहीं है
पर मैं तो निर्लज्ज नहीं हूँ"

तुलसी

"प्रेम जानता नहीं लाज को
प्रिये, प्रेम अन्धा होता है।"

रत्ना

"सद्गृहस्थ हो तुम तो स्वामी,
संयम शील गृहस्थी के तट,
मैं क्या कुलटा हूँ जो तज कर
सब कुछ प्रेम प्रेम ही गाऊँ।
पूज्य पिता कितने उदास हैं,
लज्जा से आनत शिर उनका,
आज मानते हैं अपमानित,
धिक्कृत, देख तुम्हारी बातें।
औ, जननी भी महा दुखित है
भीतर ही भीतर रोती है।
फिर मैं अपनी बात क्या कहूँ
मैं तो जीवित आज मर गई।

क्या मुँह लेकर उन्हें दिखाऊँ
किस मुँह से सखियों से बोलूँ ।"

तुलसी

"यह तो केवल मन का भ्रम है ।"

रत्ना

"मेरा या कि तुम्हारा स्वामिन् ?"

तुलसी

"कातर मन संशय में पड़कर
दुख की सृष्टि किया करता है ।"

रत्ना

"इस प्रकार की कातरता ही
संयम की रक्षा करती है ।"

तुलसी

"यह समाज के बन्धन भ्रम हैं ।"

रत्ना

"बन्धन हैं किस लिये कहो तो ।"

तुलसी

"मुझे चाहिये नहीं जगत का
यह निर्बलता का बन्धन है ।"

रत्ना

"पर हम तो निर्बल प्राणी हैं ।"

तुलसी

"तुम मेरी पत्नी हो रत्ना,
मैं सशक्त हूँ मैं समर्थ हूँ।
मेरे लिये नहीं हैं बन्धन
मैं समाज का निर्माता हूँ।
हमी तोड़ सकते हैं बन्धन,
प्रेम अलभ्य वस्तु है जग में
यौवन अस्थायी है रत्ने
तृप्ति दान को निर्मित ये क्षण।"

रत्ना

"तुम समाज के निर्माता हो
क्या समाज का ध्वंसन करके ?
अनाचार, व्यभिचार, विशृंखलता
फैला कर ही समाज में ?
क्या यह तृप्ति चिरस्थायी है
क्या यह पूर्ण तृप्ति जीवन की ?
क्या न, भोगने पर भोगों के
और कामना बढ़ती जाती ?
क्या पाया है अब तक तुमने,
तुमने आत्म-विवेक खो दिया।
तुमने तो सब शास्त्र पढ़े हैं
भोग भोग ही क्या जीवन है ?

यह चर्मावृत छविमय तन है,
नश्वर इसकी सुन्दरता ह ।"

तुलसी

"तुम अविनश्वर तुम सुन्दरतर ।"

रत्ना

"मिट्टी का तन रूप विनाशी ।"

तुलसी

"नहीं नहीं, रूपसि, तुम में है
मद अनन्त सुन्दरता सागर ।"

रत्ना

"यह भ्रम है, यह तृप्ति नहीं है,
यह मरीचिका है, यह छल है ।"

तुलसी

"मेरा मन तुम में रमता है ।"

रत्ना

"मेरा मन हरि में रमता है,
मुझे घृणा है इस जीवन से ।"

तुलसी

"मुझ से घृणा ?"

रत्ना

"नहीं इस रति से,
नाश मान छवि, रूप विनश्वर,
क्यों न खोजते अविनश्वर को

जो अनन्त सौन्दर्य राम है,
राम विधाता सौन्दर्य का।"

तुलसी

(सोचते हुए)

"ठहरो ठहरो।"

रत्ना

"चर्मावृत इस झूठे तन में
सौन्दर्य केवल मृगजल है।"

तुलसी

"मृगजल है सौन्दर्य तुम्हारा ?"

(धक्का-सा लगता है)

रत्ना

"प्रेम क्यों न करते हो उससे
जो अविनश्वर सुन्दरतम है।
अक्षय जिसका प्रेम रूप है,
अक्षय जिसका सौन्दर्य है।
वह अविनश्वर राम जगत का
मनोनीत अभिराम अमर है।"

दूसरी सखी

चुप रहकर बोले रत्नापति—

तुलसी

"कहो कहो फिर कहो क्या कहा—"

रत्ना

"चर्मावृत यह छविमय तन है
नश्वर इसकी सुन्दरता है।
वह अविनाशी राम जगत के
मनोनीत अभिराम अमर हैं।"

दूसरी सखी

मूक हो गये रत्ना के पति
जाग ज्यों उठे रोम रोम से,
आँखें बदल गईं, मुख बदला,
आकृति पर नव आभा चमकी
कई घड़ी तक खड़े खड़े वे
रहे खोजते अपना अन्तर,
अन्तर मंथन हुआ निरन्तर
सब कुछ बदल रहा था भीतर,
हटा आवरण, छटा तिमिर दल,
फटी घटा छितरा कर उड़ती,
एक नया आलोक बिखरने
लगा ज्ञान के नये चित्र ले,
देख पड़ा संसार समूचा
नये रूप में, नये चित्र में।

तुलसी

(सोचते हुए धीरे-धीरे)

"क्या सचमुच मैं मोहग्रस्त था,
क्या यौवन क्षण भंगुर है यह ?

क्या यह प्रेम वासना विगलित,
पीड़ित जो करता जीवन को,
नहीं प्रेम यह, नहीं सत्य यह,
नहीं ज्ञेय यह, धूमित धूमिल,
कितनी दूर वास्तविकता से
यह सम्पूर्ण जगत भ्रम मय है।
तोय समझ कर अग्नि पी रहा,
अमृत मान कर विष पीता हूँ,
कितना भ्रम है, कितना छल है,
माया का आवरण विश्व यह,
जो प्रिय लगता है दिखने में,
है परिणाम नाश ही जिसका,
वह अविनाशी राम जगत का
सचमुच क्या अभिराम अमर है ?"

पहली सखी

सचमुच बड़ी बात है यह तो
ऐसा क्या सुन पड़ा कहीं भी।

दूसरी सखी

रत्ना मूक खड़ी देखा को
पति के अन्तर परिवर्तन को,
देख रही थी चित्र नया ही,
रूप नया ही, दृष्टि नई ही।

कुछ वह डरी, और कुछ सहमी,
पछताने का आया अवसर,
पर पति देव मथित अन्तरतर
देख रहे थे यद्यपि बाहर,
पर भीतर ही भीतर जाने
उनके क्या चिन्तन बढ़ता था।
और न जाने सुध बुध भूले,
वे कितने क्षण खड़े रहे यों।

पहली सखी

समझ न पाई रत्ना भी गति
उनके मन की, भूली भूली।
किन्तु अचानक देखा उसने
पति उसके दृढ़ से दृढतर बन,
किसी ध्येय के लिये व्यग्र से
होते जाते थे साहस भर,
जैसे अमित शक्ति के सागर,
उनके तन में भरते जाते।
रोम रोम में प्राण प्राण में
अन्तर अन्तर में ध्वनि उठती।
किसी अदृश्य शक्ति से प्रेरित
उनके प्राण वज्र से दृढ़ बन।

पीछे छोड़ रहे हो सब कुछ,
अपनाते जाते हो नव नव।
उस अविनाशी रूप राम को
जो जग के कण कण में व्यापक,
उन्हें दिखाई दिया विश्व में
रूप राम का तन में मन में,
चिन्तन दर्शन में, रत्ना में,
परिजन, पुरजन में, अणु अणु में,
वृक्षों में, छाया में, सर में,
सरि में, पुष्पों में, सौरभ में,
विद्युत् में, निर्मल मेघों में,
नये व्योम में, रोम रोम में।
भूल गये वे अपनापन भी,
भूल गये वे रत्ना को भी।
भूल गये वे, अभ्यागत हैं,
मान्य अतिथि श्वश्रू के घर में,
बोले तब सचेत हो सम्मुख
खड़ी हुई पत्नी से बोले—

तुलसी

"धन्य हुआ हूँ धन्य, आज मैं
तुमने मेरी आँखें खोलीं,

महा ज्ञान दे दिया मुझे है,
किन्तु बिदा दो, मैं जाता हूँ।
मेरा अंधावरण हट गया
अब तो राम एक गति मेरे,
वही अनन्त प्रेम के सागर
सौन्दर्य के सागर अभिनव,
वे ही गति हैं, वे ही मति हैं,
वे ही ध्येय, प्रेय हैं मेरे।
वे ही ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता हैं,
वे प्रमेय औ' प्रमा, प्रमाता,
वे ही चर हैं, वही अचर हैं,
वे ही जड़ जंगम, जीवन-धन।
उन्हें प्राप्त करने जाता हूँ
मुझे विदा दो, मुझे विदा दो।"

द्वितीय सखी

इतना कह चल दिये त्याग सब,
महाभाग वे एक दिशा को।

पहली सखी

रत्ना ने क्या नहीं कहा कुछ ?

द्वितीय सखी

कहा क्यों नहीं, रोई गाई
चिल्लाई मनुहार किया पर,
कुररी के सम तड़पी दौड़ी,
और मनाया भी सबने मिल,
पर वे क्या सुनने वाले थे,
उसका अनुनय विनय व्यर्थ सब,
फिर पछाड़ खा गिरी भूमि पर
सुध-बुध भूल गई रत्ना भी।
त्याग दिया है अन्न और जल
उसी समय से उस नारी ने।

प्रथम सूत्रधार

आत्म चिन्तन में निरत वे
गत विभव घर त्याग कर,
चल दिये निर्वाण के
कल्याण के हित महत्तर,
विचरते काशी, अयोध्या
तीर्थों पर निरन्तर,
और राघव दर्शनों की
लालसा ले व्यग्रतर।

संत संगम हरि समागम
देव दर्शन में निरत,
तत्त्व चिन्तन, आत्म शोधन
अगम आगम में सतत,
खोजते कर्त्तव्य पथ
उद्देश्य अथ अध्यात्म धन,
खोजते सत्कर्म से
सद्धर्म से जीवन सुमन।

द्वितीय सूत्रधार

और देखा सब जगत पीड़ित,
पतित अकृतात्म है,
वास्तविकता से रहित
आडम्बरी अध्यात्म है।
देवता के नाम पर
संघर्ष होता परस्पर,
सम्प्रदायों में विभाजित
लड़ रहे सिर फोड़ नर।
पारस्परिक कटुता अनास्था,
वैर अथ विद्वेष छल,
औ', अपर निन्दा, निज स्तुति
वंचना छल आत्म बल।

और देखा साधुता के
नाम पर अविचार भी,
अव्यवस्था ही व्यवस्था
और मिथ्या चार भी।

प्रथम सूत्रधार

देखा यह सब व्यग्र हो उठे,
तुलसी अति प्रपीड़ित,
क्या गृहस्थ क्या साधु सभी
नर नारी बहुत दुखी हैं।
लगे सोचने वह उपाय
जिसमें कल्याण सभी का।
लगे सोचने वह उपाय
जिसमें आनन्द सभी का।
कारण मूल खोजते पाया
भिन्न भिन्न देवों को,
सृजन, नाश, पालन-कर्ता
के रूपों में देवत्रय।
पालक विष्णु, रुद्र संहारी
औ' विरंचि सर्जक हैं।
फिर क्यों हो विरोध आपस में
सभी अपेक्षित सुर हैं।

द्वितीय सूत्रधार

ज्यों शरीर का सृजन, विसर्जन
पालन तत्त्व समीहित।
इसी तरह इस सृष्टि नियम में
देवों की स्थिति रहती।
और राम तीनों देवों के
रूप समन्वित सुन्दर।
सब कुछ तप और चिन्तन द्वारा
युग द्रष्टा ने देखा।

प्रथम सूत्रधार

एक राम ही परम सत्य हैं
देवों के प्रतिनिधि हैं।
वे ही लीला द्वारा अपनी
मानव के सद्गुण के।
प्रेरक और धर्म संस्थापक
मर्यादा पुरुषोत्तम।

द्वितीय सूत्रधार

उनके चिन्तन मनन भजन से
जीवन सुखमय होगा।
उनकी धर्मोचित लीला से
मानव का शुभ होगा।

यही मानकर हुलसी के सुत
तुलसी दास तपस्वी,
रामचरितमानस की गाथा
लिखने लगे मनस्वी ।
पतित पावनी राम कथा से
पावन उनका तन मन ।
जहाँ हुआ था वहाँ जगत ने
माना उसे महाधन ।

प्रथम सूत्रधार

युग का सत्य निहित था उसमें
भक्ति ज्ञान गंगाजल,
परम शान्ति सन्देश दायिनी
गंगाजल सम निर्मल ।
पढ़ा अज्ञ ने, पढ़ा विज्ञ ने
पढ़ा मूर्ख मानी ने,
साधारण नर ने जो पाया
पाया वह ज्ञानी ने ।

द्वितीय सूत्रधार

काव्य कला का चमत्कार था
रचना का कौतूहल,
दर्शन तत्व विवेचन भी था
भक्ति छटा सुविनिर्मल ।

सहज सरल भाषा गागर में
ज्ञान भक्ति का सागर,
सबने अपनी रुचि का पाया
मन सन्तोष उजागर।
यह जीवन दायिनी कथा थी
प्राण तोषिणी गाथा,
मृत मानवता का संजीवन
युग की प्राण विधाता।
यद्यपि अपर अमर गायक थे
भक्त तपोधन जन थे,
फिर भी रामचरितमानस पर
मुग्ध सभी जग जन थे।
सूरदास थे धन्य, धन्य थे
नन्ददास हरिवंश,
सब ने गाया कलियुग में
सद्ग्रन्थ वेद का अंश।

अभिनन्दन

वन्दनीय अभिनन्दनीय हे
पावन तुलसीदास !
दीपस्तम्भ अमा भव सागर
निर्बल के विश्वास,

चातक राम भक्ति रस-शशि के
तम पातक के त्रास ।
राम कथा सुरलता-कुसुम-मधु
सीकर पीकर आये,
अमृत भक्ति के नई शक्ति के
जीवन कण बिखराये ।
दिव्य दृष्टि से युग जीवन में
देख मृत्यु की छाया,
संजीवन निष्काम भक्ति का
अक्षय अमृत पिलाया ।
तुम नव जीवन के निर्माता
काव्य-कुंज मधुमास,
वन्दनीय अभिनन्दनीय हे
पावन तुलसीदास !

समाप्त

गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण

[*द्रोणाचार्य आत्मचिंतन करते हुए*]

शिव शिव, शिव शिव, यह भी अब सुनना पड़ा—
दुर्योधन ने कहे हाय, क्रूरतम वाक्य जो—
अपने व्यंग्य बाण से बेधा है हृदय मम ।

दुर्योधन

"अच्छा किया आपने हे गुरुवर, अच्छा किया,
दे दिया जो अवकाश पाण्डवों को युद्ध बीच—
अर्जुन के कहने से युद्ध बन्द कर दिया—
'रात बहुत हो गयी है, घना है तिमिर-दल
थक भी गये हैं सब सैनिक तो बन्द करो,
बन्द करो युद्ध और जाके सब सो रहो ।'
जैसे यह नृत्य संगीत का आयोजन—
मोद का, विलास का, मदिरापान उत्सव ?
अच्छा किया आपने हे गुरुवर, अच्छा किया,
दे दिया समय मेरे शत्रुओं को आपने ।
देखता हूँ आज नहीं···मैं अनति काल से···
अर्जुन का पक्ष आप लेते रहे आदि से ;
करना जो यही था तो क्यों न कह दिया हमें

सावधान होते हम विषधर, आप से ?
आपके ही कारण तो जयद्रथ मारे गये,
भस्म हुआ मेरा सैन्य-दल घास फूँस-सा ।
अन्यथा न कम किसी बात में हमारा बल,
शक्ति में अजेय मेरे वीर थे, अनंत बल ;
मुझे लगता है, तन आपका है मेरे पास,
किन्तु मन शत्रुओं को दे दिया है आपने ।
आपने वचन दिया, जीवित ही पकड़ेंगे—
युद्ध में युधिष्ठिर को, वह भी नहीं कर सके ;
वृद्ध-जन जानकर, गुरुजन मान कर—
सेनापति पद दिया गौरव का आस्पद ।''

द्रोण

ठहरो, हे ठहरो नृप, व्यर्थ मत दोष दो,
कौन कह सकता मैंने कोई भी छल किया,
कोई भी अवसर दिया शत्रु को अपाय का,
जी जान होम कर लड़ते हम रात-दिन ।
फिर भी सन्देह त्रस्त तुम हो दुर्योधन ?
कृष्ण उनके हैं साथ, पार्थ भी अजेय वीर—

दुर्योधन

द्रोण और कर्ण के समान नहीं गुरुवर ?

द्रोण

किन्तु मैं तो शक्ति भर लड़ता हूँ शत्रुओं से—

दुर्योधन

भीतर से मित्र हैं वे शिष्य प्रिय आपके ।

द्रोण

व्यर्थ मत बेधो मुझे, वाक्य-वाण मारो मत
छल से, कपट और ईर्ष्या से दूर हूँ ।

दुर्योधन

केवल हमारे लिए धर्म की दुहाई देते—
हम हैं अधर्म पर—

द्रोण

यह क्या असत्य है ?
आधा राज्य उनका था अधिकारी भी थे वे,
किन्तु नहीं दिया गया, पाँच ग्राम भी नहीं ;

दुर्योधन

राज्य नहीं दिये जाते, भीख है न यह गुरो,
शक्ति से ही प्राप्त होते राज्य बल-बुद्धि से ;

(चुप रहकर)

क्यों न आपको दिया आधा-राज्य प्रतिज्ञात—
आपके ही मित्र ने, द्रुपद ने बताइये ?

द्रोण

द्रुपद की बात छोड़ो वह था अधर्म पर;

दुर्योधन

शक्ति की परीक्षा में न धर्म है, अधर्म है।
अब भी समय और अब भी विजय पास,
यदि आप युद्ध करें तन-मन-शक्ति से;
मैंने सदा आपका समादर किया है और—
मैंने सदा आपको ही माना है परमगुरु;
क्या नहीं पलट सकता पौरुष हमारा भाग्य—
यदि हम पौरुष से युद्ध करें गुरुवर ?

द्रोण

वाक्य-वाण मारने में तुम-सा कुशल कोई,
मैंने नहीं देखा नृप, स्वार्थ का घृणा पुञ्ज—
मैंने कहा था और पितामह भीष्म ने भी
और सभी बन्धुओं ने, "युद्ध है विनाशकर—"
फिर भी न माने तुम दुर्नीति पर चले;
तुमने बुलाया यह नाश अरे आप ही।
अन्न मैंने खाया है तुम्हारा इस कारण से—
रखो तुम विश्वास, युद्ध तो करूँगा ही—
शक्ति भर प्राणपण युद्ध मैं करूँगा ही।

दुर्योधन

फिर भी नहीं हूँ मैं आश्वस्त आपसे—

द्रोण

इसलिए कि तुम को है सन्देह द्रोण पर ?

दुर्योधन

इसलिए कि प्रच्छन्न शत्रु मित्र आप हैं ?
धोखा हुआ मुझको है अपने ही मित्रों से ।
अपने ही व्यक्तियों ने नाश मेरा कर दिया ।
पर्वत का शिलाखण्ड टूट सकता है सुनो,
झुक नहीं सकता मैं, झुकूँगा न शत्रु से ।
युद्ध होगा, युद्ध होगा, युद्ध होगा अन्त तक—
चाहे वह परिणाम शुभ या अशुभ हो ।

द्रोण

परिणाम दीखता है मुझे ··।

दुर्योधन

(हँसकर)

शत्रु की विजय होगी ?

द्रोण

सत्य की विजय होगी, धर्म की ही अन्त में ।

दुर्योधन

धर्म किसके है साथ, जान सका यही कौन—
धर्म की गहन गति ··

द्रोण

यह तो प्रत्यक्ष है ;

दुर्योधन

निश्चय फिर आप मित्र मेरे शत्रुओं के हैं,
यही धर्म आपका है द्रोह करें स्वामी से ?

द्रोण

द्रोह, हाय, ब्राह्मण को यह भी सुनना पड़ा ?

दुर्योधन

इसलिए कि ब्राह्मण पक्षपात करता है।
खाता है उसी में···नहीं, कुछ मैं कहूँगा नहीं।
चाहता हूँ किन्तु आप युद्ध करें मन से ;
अंकुश रहेगा मेरा भूत सम, भविष्य पर—
निरंकुश वर्तमान पर आप ध्यान दें।
क्या नहीं है कर सकता शक्ति पुंज मानव यह—
चाहे तो निखिल विश्व गति को बदल दे ;
खूँद डाले तारिकायें, पीस डाले भूधर भी,
बन अगस्त्य पान करे विश्व के उदधि का।

कीजिये जो कर सके आप महामानव हैं।
कौरवों का प्राण-दीन आप के ही हाथ है।"

द्रोण

गया, सब कह गया कहना अकहना सब—
दग्ध कर मेरे प्राण विष-ज्वाल-माल से।
प्राणदंश अपमान, मेरा अपनों ने किया—
फिर भी मैं जीवित हूँ, रक्षित हूँ उससे !
"इसलिए कि ब्राह्मण पक्षपात करता है—
खाता है उसी में···नहीं, कुछ भी कहूँगा नही।"
और क्या कहोगे तुम · वाक्य ही न पूरा हुआ—
भाव तो उपस्थित थे सभी मानहानिकर—
मानस में अपमान मूर्ति तो ज्वलित हो थी,
भावमूर्ति केवल वह शब्द नहीं ले सकी।
नहीं नहीं, उसके विवेक ने अबाधित कर,
या कि छल कौशल ने रोका उन्हें कहते।
—मानता है यह भी कि मैं ही अन्नदाता हूँ,
और मैं ही राजा हूँ इस द्रोणाचार्य का।
—शिष्य का न ज्ञान रहा सीमा रही कोई भी—
केवल अहंकार जाग उठा प्राण में।
—ब्राह्मण गुरु द्रोण हत-प्रभ, हत-ज्ञान,
केवल परान्न-भोजी रह गया हाय, आज !

कौन मम चेतना में दाह सो दहकती है ।

(अंतराल संगीत)

छायामूर्ति

क्या है यह सही नहीं अनुचित है इसमें क्या,
अन्तर तुम्हारा नहीं पाण्डवों के पक्ष में ?

द्रोण

(इधर उधर देखकर फिर अपने से)

"इसलिए कि पाण्डवगण मान करते हैं सदा—
मानते हैं गुरु मुझे अब भी अनल्प-मन ।"

छाया

पक्षपात निश्चय ही करते रहे हो तुम—
पांडवों की जीत चाहते हो तुम सत्य ही ।
सत्य ही क्या युद्ध यह कौरवों के हित किया—
बल भी प्रदर्शन तुम कर सके युद्ध में ?
भीतर से और गुरु, बाहर से दास द्रोण,
यह तो नहीं है सत्य ब्राह्मण का कर्म भी ।
अन्न खाते कौरवों का चाहते न कल्याण—
जिन्होंने बनाया तुम्हें सेनापति अपना—
सोचो मन वाणी से, विवेक और निष्ठा से,
कितनी असंगति है तुम्हारे ज्ञान कर्म में ?

द्रोण

अविवेक, अविवेक, मैं क्या हूँ विवेकी नहीं—
अर्पित शरीर नहीं, है निमित्त उनके ?

छाया

किन्तु मन दौड़ता है और ही दिशा में द्रोण,

द्रोण

इसलिए कि धर्म उन पाण्डवों के साथ है !

छाया

फिर क्यों न साहस से त्याग इन कौरवों को—
स्पष्ट ही स्वधर्म हित पाण्डवों से जा मिले ?

द्रोण

अन्न मैंने खाया था—

छाया

अन्न त्याग कर देते ?
किसने कहा था तुम्हें पापी का साथ दो ?
पक्ष लेते पाण्डवों का रहते उन्हीं के साथ।
जानते हुए भी सब पाप किया आपने !
जान कर साथ देना पापी का परम पाप,
है तुम्हारा कैसा ज्ञान, कैसे तुम ब्राह्मण ?

द्रोण

व्यर्थ मुझे दोष दो न, व्यर्थ ही कलंक धरो,
मैंने नहीं पाप किया मैं विशुद्ध व्यक्ति हूँ !

छाया

(अट्टहास)

कलुषित है सारा तन, भ्रम का सहारा यह—
सोचो जरा, सोचो कहाँ जीवन में ज्ञान है ?
युद्ध के मुहूर्त जब युधिष्ठिर रण बीच—
आज्ञा लेने आया और ली चरण-रज भी—
तभी तुम भूल गये, शत्रु है तुम्हारा वह ।
शत्रु को विजयवाद देना क्या उचित था ?
तुमने तो पहले ही विजयी बनाया उसे !

द्रोण

इसलिए कि युद्ध के विरुद्ध रहा मेरा मत—
और समझाता रहा कौरवों को सदा यह !
किन्तु नहीं माने वे प्रमत्त पाप-अनुचर ।

छाया

फिर तुम्हें छोड़ देना साथ उनका उचित—
था नहीं क्या ? सद्विवेक एक यही शुभ था ।
छोड़कर युयुत्सु जो चला आया कौरवों को—
पाण्डवों के पक्ष बीच जा कर जो मिल गया ।
क्या नहीं था अन्न खाया उसने भी भाइयों का ?
क्योंकि वह मानता था कौरव अधर्म पर ।
तुम भी तो इसी तरह ···

द्रोण

(भुँझलाकर)

यह महान् अपराध--

होता, छोड़ देता जो कौरवों को उस समय।

छाया

तुमने यह छल किया---

द्रोण

(उत्तप्त होकर)

मेरा मन तप्त है।

दोष ही हैं दोष गुण मुझ में नहीं है क्या ?

कितना किया उपकार, कौरवों का शक्ति से।

मानोगे नहीं क्या यह मेरा पुरुषार्थ था ?

छाया

(हँसकर)

पुरुषार्थ, पुरुषार्थ, पुरुषार्थ व्यर्थ हुआ ?

द्रोण

कैसे कहो, कैसे मेरा पुरुषार्थ सब व्यर्थ है ?

छाया

क्षत्रिय बने पर क्षत्रिय क्या रह भी सके ?

मन-वाणी-कर्म से न साथ दे सके कभी।

द्रुपद के बाल्य-काल की ही बात लो जरा,

द्रोण

द्रुपद प्रतिज्ञा-भंग का न क्या दोषी था ?
दण्ड्य को न दण्ड देना कौनसा विवेक है ?

छाया

अधिकार मिला कब दण्ड का कहो तो कुछ ?

द्रोण

अधिकार मिलता नहीं, वह बल प्राप्त है।
याद आता मुझको है द्रुपद का युद्ध वह—
मेरे उन शिष्यों से, अर्जुन विशेष से—

(रण-वाद्य संगीत के साथ)

द्रुपद

आओ और कौन वीर, सबको हराऊँगा—
बालक हो छोड़ दिया, जाओ निज गृह को।

(संगीत)

अर्जुन

बालक नहीं हैं हम, हे द्रुपद, अरि तेरे
युद्ध कर, युद्ध कर, काल के समान हम।

द्रुपद

आओ यदि चाहते हो, युद्ध करो, देखो बल—
गुरु को दो दक्षिणा में मेरा यह पराक्रम।

अर्जुन

ठहरो, तुम भी तो लो मित्र-अपमान फल

द्रुपद

देखना है, जीतता है कौन तुम या कि मैं ?

(युद्ध ध्वनि)

अर्जुन

अर्जुन से युद्ध है ;

द्रुपद

द्रुपद से ही युद्ध है ।

अर्जुन

खेल नहीं बालकों का, अर्जुन समक्ष है।
जीता ही पकड़ूँगा, मारूँगा नहीं द्रुपद,
गुरु के समक्ष चलो, देखो, मैं अर्जुन !

द्रुपद

कौन गुरु, कैसा गुरु ?

अर्जुन

द्रोणाचार्य, भूल गये ?
भूल गये अपमान उनका किया था जब ?

(ठहर कर)

गुरुवर, द्रुपदराज आपके समक्ष आज,

द्रोण

(व्यंग्य से हँसकर)

हे द्रुपद, कैसा लगता है अब तुमको,
कदाचित भूल गये वह अपमान दिन ?
बोलो चाहते हो क्या ?

(लज्जा से नतशिर)

हो रहे हो लज्जा से नतशिर बोलो तो !
जाओ मैं ब्राह्मण हूँ अहित करूँगा नहीं ।
आधा राज्य दे दो मुझे और भोगो शेष तुम ?
जाओ, दे दो अधिकार ब्राह्मण का, मित्र का ।

(अवकाश)

छाया

अधिकार, अधिकार, कैसा अधिकार वह !
बच्चों के बचन का होता कब मूल्य है ?
दग्ध थे नहीं क्या तुम प्रतिहिंसा भावना से,
जो उबल रोष भरे शिष्यों को साथ ले,
युद्ध किया द्रुपद से हिंसा से जड़ित ज्ञान !

द्रोण

अपमान मेरा वह द्रुपद के द्वारा हुआ ।

छाया

ब्राह्मण तो मान अपमान से रहित है !

द्रोण

ब्राह्मण नहीं था मैं क्षत्रिय बल-प्रमत्त,
क्षत्रिय शिष्यों को पा कैसे शान्त रहता ?
दोष मानता हूँ—व्यवहार में है दोष क्या,
जो कुछ किया था, भोगा फल उस दुष्ट ने ।

छाया

फिर भी कहते हो दुष्ट, दोष क्या द्रुपद का था ?
दुष्ट था तुम्हारा मन, हिंसक प्रवृत्ति थी ।
गर्व से फूल उठे प्राण मर्म जागृत हुआ,
कर्म में घृणा और वाणी में अशर्म था !

द्रोण

(पश्चत्ताप में)

आज खो चला हूँ, मैं माँगने चला था जो,
लेने ही चला था या कि देय होता है वह,
आती है हँसी मुझे अपने उस कृत्य पर—
बच्चों का सा खेल वह खेला गया मुझ से ।

छाया

बहका कर शिष्यों को तुमने जो कर्म किया—
तुष्टि हुई भले, किन्तु कृत्य तो अकृत्य था ।

(आत्मविषाद से)

हिंसा से विमुक्त नहीं काम यह मेरा था,
सत्य से विमुक्त औ' अब्राह्मण कर्म था ।

द्रुपद था दुष्ट यदि अपमान कर दिया,
मुझको भी वैसा दुष्ट बनना क्या उचित था ?
आज सोचता हूँ, मैं युद्ध के शिविर बद्ध,
मुझको लगता है हाय, मैंने यह क्या किया ?
कोई भी न काम मेरा, शान्ति दे रहा है मुझे
भ्रान्ति-मूल जीवन सब हुआ मेरा आज है !
ब्राह्मण होकर भी मैं ब्राह्मण न रह ही सका,
तप-पूत जीवन विडम्बना की राशि है ।
मेरा कर्म, मेरा धर्म, जीवन में शान्ति भर—
कुप्रवृत्तियों से युद्ध करना ही ध्येय था ।
वह भी न किया मैंने, ध्येय मेरा व्यर्थ हुआ ।
मूल हूँ अनर्थ का, सदोष रहा मन यह !
फिर भी सन्तोष एक होता है अनन्त-तोष
विद्यादान किया शस्त्र-शास्त्र का विवेक से ।

छाया

नहीं, नहीं वह भी नहीं कर सके सविवेक—
उसमें भी पक्षपात होता रहा द्रोण से ?

द्रोण

पक्षपात, पक्षपात, कहते हो कौन तुम ?

छाया

शिष्यों को समान मान सके नहीं द्रोण तुम ।

सभी शिष्य थे समान सभी भक्ति से प्रपन्न—
गुरु का कर्त्तव्य क्या निभाया कुछ तुमने ?
कहो जब सुत हित जल-घट देते रहे—
उसमें भी किया हाय, पक्षपात तुमने ?
अश्वत्थामा को दिया बृहन्मुख घट और,
शेष शिष्य पाते रहे अल्पमुख घट ही !
केवल यही था ध्यान, अश्वत्थामा प्रियपुत्र—
पा सके अधिक ज्ञान और सब हेय हों ।

द्रोण

अरे नहीं, अरे नहीं, मर्म मत भेदो और,
मेरी त्रुटियों के पृष्ठ और मत खोलो हाय ।
मेरी अनुदारता का डंका मत पीटो और—
रक्षा करो, रक्षा करो, क्षुद्र हो गया हूँ मैं !
आता है याद आज शूल मर्म-मूल तक—
छिद जाता मेरा मन, घृणा होती मुझको ।
कितना पतित बना, कितना मैं हेय बना,
स्वार्थपुञ्ज बन गया मैं, हाय क्यों उस काल,
क्षुद्र वह रूप मेरा याद आता है जब—
अपने को मानता हूँ सचमुच ही हीनतर,
किन्तु क्या न स्वाभाविक—

छाया

स्वाभाविक कैसे हुआ ?
दुर्बलता स्वाभाविक कब होती किसकी ?
यह है नहीं स्वभाव दुर्बल का अस्त्र यह,
देता सन्तोष जो कि प्राण तन, मन को,
किन्तु एक और बात ·····

द्रोण

वह कह डालो तुम ।
आज तुम्हें छूट है, अटूट भ्रम भग्न हों ।

छाया

डरते हो अपने से·····

द्रोण

सचमुच मैं भीत हूँ ।

छाया

किन्तु आत्मचिन्तन से होता अघ दूर है ।
इसलिए सुनो इसे·····

द्रोण

हाँ हाँ कह डालो तुम ।
सुनने को प्रस्तुत है, आर्य द्रोण आज सब ।

छाया

(हँसकर)

सुन्दर विशेषण है, सुन्दर है, 'आर्य' शब्द !

(संगीत)

एकलव्य

गुरुवर ! गुरु द्रोण,

द्रोण

कौन तुम, कौन तुम ?

एकलव्य

मैं निषादराज सुत—

द्रोण

कहो कहो आये क्यों ?

एकलव्य

शिष्य 'दास' आपका

द्रोण

शिष्य, तुम निषादसुत ।

कैसे शिष्य ? लौट जाओ

एकलव्य

कीर्ति सुन आया प्रभो !

द्रोण

किन्तु तुम निषाद-सुत .....

तुम अपात्र, हीन-जाति, हीन-वर्ग, एकलव्य ?

एकलव्य

किन्तु तीव्र कामना है—

द्रोण

कामना घृणित है।

मैं न दे सकूँगा दान शस्त्र का कदापि तुम्हें,
क्षत्रिय-सुतों के साथ ज्ञान तुम्हें वर्ज्य है!

एकलव्य

बड़ी लालसा से आया भक्ति से प्रणत देव,
जन्म-जन्म अनुचर रहूँगा दास आपका।

द्रोण

नहीं नहीं, जाओ तुम, तुम हो अयोग्य सुत,
अधिकारी नहीं तुम शस्त्र-ज्ञान दान के।

(अवकाश)

छाया

चला गया खंड-खंड हृदय निराश हत—
तुम रहे गर्व में अखर्व दम्भ पान कर।
यही नहीं, यही नहीं और फिर एक दिन

(मुँह में बाण भरे कुत्ता चिल्लाता है)

(अवकाश)

अर्जुन

शरों में व्यथित मुख श्वान यह मेरा हाय,
किसने इसे बिद्ध किया कौन वह वीर है?

द्रोण

चलो देखें कौन वह धनुरभ्यासी है,
सचमुच अचूक लक्ष्य-वीर होगा वह तो ।

अर्जुन

जाने कौन होगा वह, यह तो विचित्र दृश्य—
शरों से समस्त मुख भरा हुआ, कौन वह !

(थोड़ी देर बाद)

यही है, यही तो गुरो, लक्ष्य-बेध-मग्न जन,
खरतर शर मार तरु को गिरा रहा ।

द्रोण

देखता हूँ ठहरो तुम, आगे बढ़ूँ, ठीक यह—
अरे कौन, धनुरभ्यासी तुम कौन हो ?

एकलव्य

(औत्सुक्य से)

आहा, स्वयं गुरुदेव, धन्य यह जीवन है—
मैं प्रणत एकलव्य शिष्य देव आपका !

अर्जुन

आपका है शिष्य यह,

द्रोण

नहीं, नहीं, मेरा नहीं ।

अर्जुन

(व्यंग्य से)

कह रहा है समक्ष, आपका ही शिष्य है।

द्रोण

कैसे शिष्य, कब बने, मैंने क्या सिखाया, कहो ?
किन्तु यह मूर्ति तो हमारी ही है अर्जुन !
कहो भाई, स्पष्ट कहो, तुम कैसे शिष्य मम ?

एकलव्य

(प्रणाम करके)

आपका ही शिष्य हूँ मैं गुरुदेव आपका ही।
मैं गया था एक दिन चरणों में दास बन—
सीखने धनुर्वेद, पर .....

द्रोण

कहो, कहो, हाँ हाँ।

एकलव्य

त्याग दिया आपने कि, "म्लेच्छ हूँ, अनार्य सुत।"
फिर भी न मैंने छोड़ा ध्यान देव आपका।
मूर्ति सम्मुख रख सीखता हूँ धनुर्वेद—
जो कुछ तनिक ज्ञान, ज्ञान आपका दिया !

द्रोण

तुमने ही शर भर दिये श्वान मुख में हैं ?

एकलव्य

गुरुदेव, भौंक कर ध्यान भंग कर दिया—
श्वान ने, इसी से मैंने शर-विद्ध मुख कर—
श्वान को भगाया और लक्ष्य में निरत हूँ ।

द्रोण

सचमुच मैं हूँ प्रसन्न !

एकलव्य

जीवन सफल हुआ !

छाया

(*अट्टहास करके*)

दक्षिणा स्वरूप भेंट अंगुष्ठ ले लिया,
कितने पतित हो, घृणित, अकृत्य कर ?
क्या न अधिकारी वह शस्त्र और शास्त्र का,
फिर भी अयोग्य कह तिरस्कार कर दिया ?

द्रोण

तुम नहीं जानते हो, वह काल ऐसा ही था,
नीचों को शस्त्रज्ञान का न अधिकार है ।
ये अनार्य-म्लेच्छ यदि समता करें तो कहो—

कैसे हम आर्यों की सत्ता विशिष्ट हो ?
यह तो है राज-नय, राजनीति कूटनीति,
शास्त्र से अबाधित औ' धर्म से न हीन है।

छाया

किन्तु वह शिष्य बन आया था दीक्षा को—
मन-विशाल, मन-उदार मानकर आपको।
ज्ञान है बपौती नहीं, किसी एक वर्ग की ही
ज्ञान-दान ब्राह्मण का एक मात्र कर्म है।
वह भी तो दिया नहीं गया द्रोण तुम से तो,
तिरस्कार कर दिया, बहिष्कार उसका।
माना सच, माना सही काल वह ऐसा था,
किन्तु काननाभ्यासी व्यवहार शिष्य से—
क्या वह उचित था ?

द्रोण

अनुचित भी न था।
नृप-सुत अर्जुन के हित क्योंकि प्रिय शिष्य,
वही एक मेरा शिष्य, सर्वश्रेष्ठ प्रिय था।
शिष्य का महत्व सब मैंने ही आँका और—
गुरु-शिष्य सम्बन्ध अक्षुण्ण कर दिया।
आज भी कृतज्ञ वह, प्रेरणा प्रणत वह,
आज भी अजेय वह द्रोण से विनत है।

राजनीति में न पाप, राजनीति में न छल—
राजनीति पाप पुण्य से नहीं ग्रथित है।
मैं नहीं मानता हूँ पाप इसमें है कोई,
मैं नहीं मानता हूँ यह कोई अघ है।

छाया

ठीक है न मानो तुम बाध्य करता न ज्ञान,
केवल कुरेद कर देखो निज मन को।
क्या यह उचित हुआ शिष्य जब माना नहीं,
और तिरस्कार कर टाला एकलव्य को,
किन्तु वह भक्ति-पूत शक्तिमान एक मन,
एक तन, एक ज्ञान एक ध्यान लीन हो,
मूर्ति सम्मुख रख तुम्हारी ही सामने,
तुमको वचन-प्राण-कर्म-मन पूज कर—
निष्ठा से, प्रतिष्ठा से इष्टि व्यग्र-दृष्टि से—
ईश्वर समान जान एकरत, एकमत,
करता अभ्यास रहा, जातिगत अपमान—
पान कर रक्त-सम घूँट पी अनादर का—
घृणा औ' उपेक्षा औ' तिरस्कार तप्त-तन,
आया था तुम्हारे पास, ब्राह्मण द्रोण के,
तापस विशुद्ध सद्विवेक उद्बुद्ध के;
जो अनादि काल से देता रहा ज्ञान-दान।

वसुधा-कुटुम्ब मान समद्रष्टा समरूप,
अद्‌भुत अनूप रहा नेता रहा जग का।
माना वह कालकृत कर्म था तुम्हारा पर—
एक शिष्य के लिए एक शिष्य का विनाश—
भंग कर आस्था व्यवस्था और श्रद्धा सब—
हीन अंगुष्ठ कर दिया एकलव्य को।
क्या यही है आर्य कर्म, क्या यही है आर्य धर्म ?
पुञ्जीभूत श्रद्धा और निष्ठा को विनष्ट कर
ब्राह्मण के कृत्य को कलंक-घट दे दिया।
क्या यही तुम्हारा ज्ञान, क्या यही विवेक द्रोण ?
इस अविवेक से कलंकित हो ब्राह्मण।
धोये नहीं धुलेगा पाप अनुताप शाप पुञ्ज—
श्रद्धा एक कोने खड़ी हो आज रो रही।
भक्ति का विकृत मुख, घृणा से प्रताड़ित है,
तुमने नहीं जाना इसे, हँस कर टाल दिया।
भूल गये दर्प मनमोद में निज स्वरूप—
बहुत कुकर्म हुए, बहुत अधर्म हुए—
इस महाभारत में यद्यपि सभी वे,
केवल महान् दो पातक अनश्वर हैं ;
जिनमें तुम्हारा हाथ अविवेक में सना।

द्रोण

कौन दूसरा था वह ? वह भी तो सुनूँ, सुनूँ,
सचमुच एकलव्य की कथा याद कर—
हृदय विदीर्ण होता, कितना कठोर बना,
मनुष्यत्व खो दिया, खो दिया विवेक भी ।

छाया

वह है विवस्त्रा द्रौपदी की कथा व्यथापूर्ण,
उसमें तुम्हारा दोष इतना ही है कि वह,
देखते तुम्हारे हुआ—भीष्म के, विदुर के !

द्रोण

हाँ हाँ, यह कष्ट-कथा मर्म-व्यथा प्राणों की—
स्मृति में समाती रोम-रोम जल उठता ।
यह है कलंक की कहानी मत इसे कहो,
जाने कैसे रह सका मैं बैठा वहाँ उस काल ?
आज इस अन्तर्निरीक्षण में मेरा मन—
खिन्न-खिन्न ग्लानि से विधूत, अवसाद ले—
मन मेरा भर देता, भर देता अन्तर को—
हाय हाय मेरा तन, ताप से नितप्त है ।
कुछ नहीं किया मैंने कोई भी सुकर्म धर्म,
केवल प्रमादी मन मोद में लगा रहा ।

लगता है अन्ध-ज्ञान-कूप में निमग्न पाप—
अनुताप ही मिला मुझे दुर्भाग्य से ।
जीवन भी व्यर्थ गया, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,
एक भी न प्राप्त किया हाय, मैंने श्वान-सम,
साँसें सब व्यर्थ हुईं, व्यर्थ सब बीते क्षण,
निरर्थ परार्थ दम्भ पाला ज्ञान-अंग में ।

छाया

मन को विवेक की लगाम जो न देता ठीक—
होता है ह्रास उस व्यक्ति का सदैव ही ।

द्रोण

दीखता है मुझे अब जीवित रहूँगा नहीं,
युद्ध का न अन्त देख पाऊँगा विपन्न मैं ।
श्वानों औ' शृगालों की पुकार सुन पड़ती है—
गिद्धों के झपट्टों में मांस-खण्ड उड़ते,
धीरे-धीरे टूट रहे साहस के शिला-शिखर,
धीरे-धीरे टूट रहा इन्द्रियों का बद्ध-ज्ञान,
अवरुद्ध करता-सा मार्ग श्वास तन का ।
(युद्ध का नगाड़ा बजता है, कोलाहल शुरू होता है)
क्या प्रभात हो गया, युद्ध का नगाड़ा यह ?
जाग उठे वीर सब, सोया नहीं किन्तु मैं ?
आज ही समाप्त होगा, दीखता मुझे है यह,

दीखता है तेल इस दीपक का चुक गया।
उठूँ उठूँ मृत्यु की पुकार सुन पड़ती है—
चलूँ चलूँ देखूँ, और शेष कितना है तम ?
शेष कितनी है रात मेरे अनुताप की ?
मैं प्रबुद्ध वंचना से अभिभूत, अनुतप्त,
जल रहा अपनी ही साँसों की आग में।

× × ×

कितना विधूम मन, कितना प्रतप्त तन,
धुल गई मेरे विश्वासों की नींव सब,
हिल गई सारी ही पैरों की जमीन है।
जिस पर खड़ा था मैं, जिस पर अड़ा था मैं,
जिस पर चढ़ी मेरी बद्ध मूल निष्ठा-बेल,
प्रतिष्ठा के सौध पर कीर्ति का कलश रख।

× × ×

हाय, सब व्यर्थ हुआ, जीवन निरर्थ हुआ,
कितना युगों सा लम्ब कामना का द्रुम था।
जाने दो, जाने दो, जो कुछ गया है बीत,
लिपटा अतीत के पुनीत मृत्यु-गह्वर में;
स्मृतियों की कथरी से केवल जुड़े हैं पट,
वे भी अब फटे-फटे कटे वर्तमान से।

× × ×

जाने दो, जाने दो, मेरी सब आस्थाएँ गईं,
मेरे विश्वास गये, साँसों के संग संग ।
देते रहेंगे कर्म मेरा अज्ञान अनुदान—
आगत के स्वागत में छिन्न मूल मानव को ।
"एक व्यक्ति ऐसा था, ज्ञानवान हो कर भी,
बना अज्ञानी अभिमान में निमग्न मूढ़ ;
जिसने दिया न कुछ, लिया भी न कोई देय,
केवल कमाया पाप शाप ग्रस्त द्रोण वह ।
होकर आचार्य भी अनाचार ग्रहण किया,
योग्य औ' अयोग्य में विवेक नहीं कर सका ।
अर्थ के लिए जिया, प्रतिष्ठा को माना सब,
निष्ठा के भ्रम में अधर्म ही कमाया था ।
कर सका न कोई कर्म विहित विधान-मय,
हर सका न दुःख और मानव उदार बन ;
अपनी ही चिन्ता में, अपने अल्प ध्येय में,
अपने ही दंभ में निरलंब शंकु सा"

× × ×

आज मृत्यु-सरि तट मैं निपट मूढ़ खड़ा—
देख रहा सब अतीत तोता मन तन प्राण ।
कोई भी कहीं भी नहीं मेरा देय दीपक है,
कोई भी कहीं भी नहीं मेरा कर्म स्वर्ण-मय,

खूँद डाली पृथ्वी पर पैर के निशान नहीं,
भासमान होते अब उज्ज्वल नक्षत्र से ?

× × ×

चलूँ चलूँ, देखूँ, पंथ थोड़ा ही शेष अब,
शेष अब कुछ नहीं शेष यह तन है,
शेष है ग्लानि एक, शेष है शोक सिन्धु,
शेष पश्चात्ताप अनुताप शेष है ।
शेष प्राण कंकाल, शेष है अनंत-मृत्यु,
शेष और कुछ नहीं, काल गन्ध शेष है ।
तन में न रक्त उष्ण, लहराता जल जल,
मन की उमंगें दग्ध, दग्ध मन शेष है ।
ज्ञान दग्ध, प्राण दग्ध, मैं निरीह कंकाल--
आलबाल हीन एक ठूँठ सा खड़ा मैं तरु—
मरु-भूमि में विगत रस-रूप शक्ति-ज्वाल ।

× × ×

चलूँ चलूँ, देखूँ शर जो प्रतीक्षा में निरत,
मृत्यु झाँकती है जहाँ मिलूँ उससे अभीत ।
अब और कुछ नहीं मृत्यु शान्ति मुक्ति प्राण,
होगा निरास वहीं जीवन की दाम का ।
वहीं एक मात्र सुख वहीं सब दैन्य अन्त—
वहीं होगा शम प्राप्त जीवन दुरन्त का ।

मृत्यु का प्रभात झाँक जीवन के गिरि-शिखर
मुझको बुलाता और हँसता है देख-देख,
वहीं है वहीं है एक अवसान म्लान मन—
वहीं है प्रशम सुप्त·····

चलूँ चलूँ देखूँ वह !

(उदास और दुखी चले जाते हैं।)

अश्वत्थामा

मै अपूर्व असहिष्णु, ईष्या से जलता मन,
मुग्ध हूँ विनाश पर, मानव के त्रास पर,
मैं अपूर्व, मैं अमर, मैं अजर जीवित हूँ;
चिरंजीव अश्वत्थामा गुरु द्रोण पुत्र मैं;
शत्रु हूँ विजयी का पराजित का परम सुख,
जीता हूँ मस्तक में घाव ले अभावों का;
कहते हैं कृपाचार्य, बलि, व्यास, हनूमान्,
परशुराम, विभीषण मेरे साथ जी रहे;
मैं नहीं जानता हूँ जीते या कि मरे वे हैं,
क्योंकि उन्हें देखा नहीं, लेखा भी न उनका;
मिले नहीं पंथ में वे मुझको न और कहीं—

शायद यह भ्रम होगा, धारणा ही होगी या,
जो कि कल्पना में जीते, और मुझे चिन्ता क्या।
मैं तो जी रहा हूँ आज जीऊँगा भविष्य में भी,
भूत वर्तमान में मेरा सौभाग्य है;
कोई थे दया प्रतीक, कोई थे क्षमा प्रतीक,
कोई धर्म अनुचर थे, कोई सत्य—ध्वज बल
किन्तु मैं तो जीवित हूँ आज भी असीम शक्ति—
पुंज नर कुंजर मैं अश्वत्थामा जीवित हूँ।
छीन ली है मेरी मणि शिरोमणि अर्जुन ने,
फणी के समान आज मणि हीन फिरता।
नष्ट होगा सब कुछ, समय की अनन्तता में,
भरेंगे अनन्त घाव मानव के मन के—
किन्तु मेरा शिरोघाव भर भी सकेगा क्या?
नहीं नहीं, मेरा घाव—मन और प्राण का—
पुरेगा कभी भी नहीं, भरेगा कभी भी नहीं,
हरा ही रहेगा सदा मेरा घाव सिरका।
रहे रहे यह भी रहे कुछ तो कंलक रहे—
अंक रहे व्यथा में मंयक प्रतिहिंसा का।
जीवित ही प्रेत हूँ मैं, जीवित ही राक्षस—
विकृति घृणा का पुंज कुंज अघ किल्विषी;

अरे, कोई चिन्ता नहीं जो कुछ किया है मैंने,
और कर सके कोई मेरी क्या समानता !
मेरा बल अक्षय है, मेरा बल निश्चय है,
मेरा बल प्रतिहिंसा, प्रतिशोध मेरा बल ।
मुझसे ही जीवित है व्यालिनी प्रतिहिंसा;
मैं अजेय मैं अमर अश्वत्थामा कृपीसुत ।

× × ×

याद आ रही है महाभारत की रात वह
जिसने बनाया मुझे इतिहास में अमर—
इतिहास में प्रखर क्रूर कामना की सिद्धि ।
हार कर सोये थे एक तरु तले सब ।
भग्न मन, भग्न तन, छिन्न ज्ञान चेतना ।
मैं था और कृतवर्मा कृपाचार्य मामा मेरे,
दोनों सो रहे थे किन्तु जागता मैं केवल था,
हार कर पांडवों से ग्लानि में भरा भरा ।

कृपाचार्य

जागते हो अश्वत्थामा, नींद नहीं आई तात ?

अश्वत्थामा

नींद आती सुख में है—सोते नहीं पराजित ।
जैसे सब घूम रहा दृश्य इन आँखों में ;

मेरे मन प्राण में, चेतना में विष सा ;
व्याप्त है गरल-गति मेरे रोम-रोम में ;
हाय, आज यह भी मुझे देखना पड़ा अचिन्त्य ;
स्वप्न में भी सोचा जो न भाग्य ने दिखाया वह ।

कृतवर्मा

जो कुछ भी अदेखा दीखता है हमको अकल्प —
विधिना का लेखा परिणाम वह कर्म का ;
मानता हूँ मैं तो दोष कौरवों का अरे आज—
मूल हेतु दुर्योधन एक मात्र युद्ध का ?
पाँच ग्राम दिये नहीं गये दुर्योधन से—
आज सब राज्य छोड़ जाना पड़ा दुर्निवार !

अश्वत्थामा

चुप रहो, तुम नहीं समझे हो नृपति को कि—
मनमानी धर्म की दुहाई देने आ गये ;
कहाँ धर्म, कैसा धर्म, किसने बनाया उसे—
कौन कर सका धर्म निर्णय ही कृपाचार्य ?

कृतवर्मा

सोओ तात, धर्म ने स्वयं ही सब फल दिया,
चिन्ता करें हम ही क्यों—हम तो निमित्त थे ;
जिसने गुरु-द्रोण का उपदेश सुना नहीं ;

पितामह भीष्म का तिरस्कार भी किया—
उसका फल भोगे वह भोगे अपना किया,
मैं तो भाग्यवादी हूँ—

अश्वत्थामा

निकम्मे तुम—
भाग्य का स्वनिर्माण पौरुष ही करता है,
भाग्य है मनुष्य कृत, जीवन भी मनुष्य कृत,
सुख है सुपरिणाम पौरुष का मानव के ;
दुःख है हमारी भूल भावना का पुरस्कार ।

कृपाचार्य

किन्तु यह पराजय—

अश्वत्थामा

पराजय क्या स्वयं हुई ?
इसमें बलाबल और भ्रांतियाँ प्रतिष्ठित थीं ;
छल किया पांडवों ने पिता का निधन कर !
पितामह भीष्म ने भी पक्षपात दिखलाया ;
कर्ण का निधन हुआ रथ को सँभालते—
अक्षम थे हम लोग अवसर को न जान सके,
डूबे रहे दर्प में विगत ज्ञान प्राणवान्,
अभिमान मूढ़ वीर निज को बताते रहे,

और फिर छल किया पापी उस भीम ने भी,
कष्ट मनस्ताप में ग्रथित नृपति जब—
दुष्ट अभिमानी उस भीम ने प्रहार कर—
जंघा तोड़ डाली नृप दुर्योधन वीर की।
कौन कहता है सत्य पथ पर थे पांडु-पुत्र,
कौन कहता है माँग न्याय्य ही थी उनकी ;
ज्येष्ठ धृतराष्ट्र ही तो अधिकारी राज्य के थे,
क्यों न फिर सुयोधन नृपति प्रजा के पति—
होते, और होते इस धरती के स्वामी वे ?
न्याय की दुहाई तुम देते रहे धर्म की भी,
धर्म था किधर आँख खोल कर तो देखते ?
धर्म की गहन गति, धर्म की गहन मति,
धर्म और न्याय था किधर कुछ सोचो तो ?
मेरा तन जलता है, मेरा मन जलता है ;
रोम-रोम में विषाग्नि जलती है बन्धु आज ;
सोते हो कायरों से हीन-बल, हत-ज्ञान—
जैसे सब मान लिया खेल यह भाग्य का।
कृतवर्मा, कृपाचार्य पूज्य हो यद्यपि तुम—
मुझको बताओ, कहो, कैसे अग्नि शांत हो—
जल रही है अन्तर में मथित करती-सी मन—

तन को जलाती प्राण-प्राण सुलगाती जो ;
हाय, आज मैं विवश, हाय, आज मैं निबल,
कितना असहाय आज मेरा मन तन प्राण ;
सोओ तुम मामा, सोओ कृतवर्मा, सो जाओ,
मृत्यु की सी निद्रा को वरण करो कायरो ?
मेरे प्राण ब्रह्मरंध्र फोड़ उड़ जायें यदि—
तो भी यह शांति मुझे मिलेगी कभी नहीं ।

कृपाचार्य

किन्तु तात, अब क्या उपाय शेष, निःशेष,
शेष ही रहा न कुछ सब ही समाप्त है ।
लगता है मुझको भी जैसे सब स्वप्न हुआ,
प्रासाद भग्न हुआ धृतराष्ट्र-कर्म का ;
वह वसन्त जीवन का काल ग्रीष्म दावा में—
भस्म हुआ फूल-फूल, पत्तियों से, डाल से ।
अब तो है केवल शेष जीवन के निश्वास,
अलसाये स्वप्न से निबल प्राण बल हीन ;
यही तो प्रतारणा है जीवन की कि अरे हम—
मृत्यु में से खींच नहीं ला सके हैं जीवन ।
कालचक्र घूमता है भाग्य को दबाये हाथ,
साथ-साथ चलता है कोई संकेत लिये ।

कृतवर्मा

सत्य है अश्वत्थामा, जीवन का चक्र यह—
घूमता है अथक अमृत बरसाता जग—
मृत्यु के ही मुख में तो जाता है अविश्रान्त—
मैं भी तो सोचता हूँ यह कौन अभिशाप—
जीवन को निगलता है क्षण-क्षण व्रण-सा,
भीत में अतीत की में जा छिपे हैं आज बन्धु,
देख पाना जिनको न शक्ति है मनुष्य की।
कौन जाने सोचते हैं कैसे अपना अतीत,
कौन जाने सोचने की शक्ति भी है उनमें।
सब कुछ अदृश्य है, अज्ञेय, अननुमेय,
और यह प्रशान्त है श्मशान सा कुरुक्षेत्र।
चील गिद्ध खाकर मांस प्रिय जन बन्धुओं का—
पचा चुके, नाड़ियों की धमनी का उष्ण रक्त—
केवल है एक शेष, केवल है स्मृति शेष,
यशः शेष तन एक इतिहास के लिये।

× × ×

नींद मुझको भी नहीं आती है पड़ा हूँ किन्तु—
जैसे हूँ विवश एक नींद ही उपाय है।

कष्ट मुझको भी कम नहीं है भगिनीसुत,
किन्तु कष्ट चिल्लाने से कभी नहीं घटता।
यह अघट घटना है अप्रमेय सृष्टि-दाम—
मानना हमें ही होगा रोकर या हँसकर।
चलो अब सो जाओ, जीना है बहुत दिन—
सीना जो फट गया है जीर्ण कंथा का पट ?
कौन जाने भोग भी सकेंगे राज्य पांडु-पुत्र,
कौन जाने आपस में लड़कर वे मर जायँ।
कौन जाने सत्य व्रत युधिष्ठिर वीतराग,
त्याग कर राज्य-पद चले जायँ बन को।
चिन्ता कभी कभी होती वृद्ध धृतराष्ट्र की—
जीवन की शेष साँस उनकी क्षत हो गई।

अश्वत्थामा

रहने दो अनित्यता औ' नश्वरता दर्शन की,
रहने दो दैन्य यह जो है तुम्हें पालता।
रहने दो चिन्तन यह प्राणों का अक्लंतन कर—
रहने दो विडम्बना जो सह रहे हो आज तुम।

कृपाचार्य

हम तो फिर ब्राह्मण हैं कर्म यह हमारा नहीं,
हारा नहीं ब्राह्मण है कभी भी निज धर्म से ;

उसी ने बचाया राष्ट्र अपनी ज्ञान-चेतना से—
कर्म से विवेक और तप आचार से ;
यह है अनार्य कर्म राक्षसों का कार्य सुत—
हम नहीं हैं होते तात क्रोधवश निर्दय ।

अश्वत्थामा

ब्राह्मण उपदेष्टा है, ब्राह्मण ही रक्षक है,
भक्षक बनेगा वह क्षत्रिय यदि हीन-बल ।
राक्षसत्व देवत्व कोरी कल्पना है विप्र,
व्यर्थ है अनर्थ देख शांति की उपासना ;
मेरा ब्राह्मणत्व जाग मुझको पुकारता है—
रुक नहीं सकता मैं छूछें हेतु दान से ।
खौलता है अब मेरी धमनी में वैररक्त,
प्राण अग्नि धूँ-धूँ कर मुझको पुकारती ;
किन्तु कोई दीखता है मुझको उपाय नहीं,
कोई पथ सूझता है नहीं मुझे अब भी ।
जाओ तुम सो जाओ मैं न सो सकूँगा आज—
कालरात्रि के प्रचंड झोंके उठे आते हैं ।
साँय-साँय करती है काली-काली रात यह—
जैसे इस तमिस्रा में प्रेत का हो साम्राज्य ।
दीखता है कुरुक्षेत्र मुझको महा श्मशान,

जीवन जल रहा है जहाँ ढेर-ढेर राख बन,
कर्म की प्रव्रज्या में अशेष है प्रवृत्ति राग।

× × ×

युद्ध की समाप्ति के बाद यह काल रात्रि—
मुझको लगती है जैसे यमराज घूमता;
काल का तिमिर कंक घिर कर सा आ गया।
अपने दृढ़ बाहुपाश में विनाश बाँधकर;
मानव के खून से लथपथ है धरती यह।
मानव का खून सब दिशा से पुकारता;
उल्लसित मेरे प्राण देख यह झूमते हैं—
लगता है मुझको इस विनाश में समुल्लास;
बज रहे हैं डमरू विनाश के गगन भेद—
पोर-पोर रौरव का दर्दनाक नाद है।
मेरे प्राण चीखते हैं धमनी पुकारती है,
अब भी है शेष कुछ करने को कृपाचार्य ?

(ठहर कर सोचता है)

रहो रहो सूझ रहा कुछ नया-नया उपाय।
लेटा था अँधेरे में जब मैं स्वनेत्र फाड़,
खुली हुई पलकें ये अलकों से उलझती थीं,
भिगोकर कपोल शोक कल्लोलिनी धार सी;

देखा तब मैंने चुप चुप धुप से अँधेरे में—
उल्लू ठेंगे मारकर करते थे रुधिर पान ;
निर्बल भी प्रतिशोध लेता है इस तरह—
छल से, कपट से, दंड दे सकता शत्रु को ।
मुझको सिखाता है कि क्यों न मैं वैसा करूँ,
सोते में ही शत्रु का विनाश करूँ क्यों न मैं ?

कृपाचार्य

नहीं नहीं, यह अधर्म तुम क्यों करोगे तात ?
पिता द्रोण देख तुम्हें स्वर्ग से कहेंगे क्या ?
नहीं नहीं, यह अधर्म, यह अनार्य कर्म, आर्य,
कृपाचार्य सुन नहीं सकता, जघन्य काम ।

कृतवर्मा

सो जाओ अश्वत्थामा, यह विनाश काल रात्रि,
जागने से जागेंगी प्रवृत्तियाँ कलुष की ।
मन के उत्तेजन को शान्त हो जाने दो,
मस्तक की शिराओं में तनाव कम होने दो ।
भुजाएँ फड़कतीं जो चेष्टा हीन करो उन्हें,
धमनियों की गति में स्वयं यति आयगी ।
यह है अनार्य कर्म, यह अनुदार कर्म—
धर्म को न छोड़ो, डरो महत्तम पाप से !

अश्वत्थामा

नहीं नहीं, सो नहीं मैं सकता हूँ अब और,
करना ही होगा मुझे नाश सुप्त पांडव-सुत ।
करना ही होगा मुझे स्वप्न भंग शत्रुओं का,
जाग उठी प्रतिहिंसा मेरे मन प्राण में,
मुझको दिखाई सब दे रहा जो भविष्य ।
मुझको सुनाई सब दे रहा है क्रंदन !
चीत्कार, आर्तनाद, रुदन अनंतध्वनि—
ताकती हैं कौरवों की मृत आत्मायें सब,
जैसे केवल मैं ही एक उनका सहारा हूँ ;
जैसे केवल मैं ही एक शेष मित्र उनका ;
हत-जंघ दुर्योधन विवश दीन नेत्रों से-
मेरी ओर ताक रहे नेत्रों में जल भर !
विवशता, दीनता से मूक-व्यथा पीड़ा-श्लथ,
रुधिर से लथपथ मेरी ओर ताक रहे ।
पिता द्रोण रण में पड़े हैं गत-श्वास, मूक,
आँख मूँद बूँद-बूँद पानी को तरसते,
मुझको निहार रहे अन्तर से विवश दग्ध ;
घायल शरीर छिन्न अंग व्यंग्य छोड़ते ;
हत अश्वत्थामा सुन धनुर्वाण रखकर,

त्यागते विशोक प्राण शोक में निमग्न हो ।
देखा नहीं छल किया कितना दुष्ट पांडवों ने,
बोल कर असत्य हत्या धर्नुधर पिता की की ।
फिर भी तुम कहते हो कि धर्म का संगर था,
पांडव थे धर्म-भीरू न्याय के ध्वजाधर ?
सत्य के पुजारी औ' हमारे जन पापी थे ?
किसने किया था मुक्त आधा राज्य भी दिया,
द्रौपदी स्वयंवर के बाद कुछ कहो तो ?
मार सकते थे उन्हें बाँध कर बन्दीगृह—
में भी डाल सकते थे कौरव, किया न किन्तु—
केवल उन्हें भेज दिया त्रयोदश वर्ष को ;
बनवास दे दिया औ' छोड़ दिया उनको !

कृतवर्मा

यह तो तुम मानोगे युधिष्ठिर है धर्मवीर,
सत्यवादी व्रत नियम संयम के पालक हैं ।
जूआ खेलने को उकसाया गया उन्हें बन्धु,
अन्यथा न घटनाएँ ऐसी कभी घटतीं ।
अर्जुन भी वैसे ही कृत नियम भ्रातृ-भक्त,
अनुयायी भ्राता और प्रेमी बांधवों के हैं ।

अश्वत्थामा

नहीं नहीं, होता नहीं द्यूत का रसिक कोई—
धर्म अवतार जो कि पत्नी को भी रख दे—
दाँव पर, प्रमत्त मद पद-पद विगत मति,
है यह छल औ' प्रवंचना आडम्बर।
धर्म की विघातक ओट में है जो विचरता;
निश्चय यह मेरा सुनो काल रात्रि की महान्—
सौगन्ध लेकर मैं कहता हूँ मामा सुनो,
आज ही है स्वर्ण काल, महाकाल व्याल का है,
शत्रुओं की हत्या का जो सो रहे हैं निश्चिन्त !
चलो, यह अवसर है चलो उठो, शस्त्र गहो,
कहो जय सुयोधन की, कौरवों की जय हो,

× × ×

(चिल्लाकर)

जाग प्रतिहिंसा जाग, जाग प्रतिशोध जाग,
जाग वक्र बोध जाग, जाग मेरे क्रोध जाग,
जाग महाकाल जाग, जाग विश्वकाल जाग,
जाग शम्भु, नेत्र खोल उत्तरंग व्यंग्य बोल,
जीवन में मरण घोल जाग रे कृतांत जाग।
जाग विश्वास जाग, जाग महानाश जाग,

मैं प्रचंड दुर्निवार, मैं प्रचंड हाहाकार,
मैं रुदन, चीत्कार, मृत्यु का चमत्कार,
नरक की पीड़ा घोर बसे ठोर-ठोर पोर,
मन में तन प्राण में निधन के विधान में।
खंड-खंड उद्दंड कटें गिरें रुंड मुंड,
शत्रु के प्रमादी जन मृत्यु के से निःस्वन।
चलो बढ़ो, बढ़े चलो, मुक्त करो मृत्यु को!
जीवन से मुक्त करो कष्ट हरो गांधारी।
धृतराष्ट्र दल को हल्का करो, मन को,
उनके उद्वेग को, शोक को, व्यथा को हरो;
आज ही सुअवसर है, आज ही सुयोग है।
सींचो प्रतिहिंसा का नया बीज धरती पर,
कृष्ण प्रतिमा इस अमा की प्यास शान्त करो,
हिंसा के पिनाकी शर रक्त दान माँगते।

× × ×

याद आ रहा है आज कैसे हुआ वह सब,
याद आ रहा है मुझे क्या किया था उस काल!

× × ×

मोहवश कृपाचार्य कृतवर्मा साथ चले,
चल पड़ा मैं भी क्रुद्ध सिंह बद्ध बैर सा;

शान्ति थी श्मशान की सी चारों ओर मूकदिक्,
चारों ओर निःस्पंद मौन साम्राज्य था।
केवल सुन पड़ता था श्वान औ' शृगाल स्वर,
उल्लू बोल जाते थे कभी-कभी तरु-स्थित।
कभी-कभी कोई खग चीख कर उड़ता था,
और बैठ जाता फिर पंख बाँध डाल पर।
काली रात राक्षसी सी ओढ़ कर तिमिर पट,
सो रही थी सृष्टि को छिपाये निज अंक में।
मौन थे निशा के स्वर, मौन थे दिशा के स्वर,
मौन चेतना थी, किन्तु काल ही सजग था।
मौन साँस चलती थी स्वप्नों को सँजोये मौन,
मौन सब व्यापार दिन के थक सो रहे।
केवल प्रकंप मंद-मंद थी समीर गति,
नियति के सुरथ बैठ बहती चली जा रही।
उस समय तीन हम हिंसा परिपूर्त मन,
शस्त्रों को दबाये हुए चुप-चुप निःस्वन,
जा रहे थे एक पथ क्रोध से घृणा से रत,
खो विवेक हम अनेक हत-ज्ञान, धर्म ध्यान;
कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा तीनों हम;
पांडव-शिविर तीर सोते थे अनेक वीर,

शान्त मन घिरे धीर प्रहरियों के प्राचीर ;
प्रहरी भी निद्रित से तन्द्रा चिरमुद्रित से,
ऊँघ रहे श्लथ शरीर कंधे धर तूणीर,
फिर भी उन्हें मूर्छित कर आगे बढ़े तीनों हम—
तस्करों से, चुप-चुप, देखते से, सूँघते से,
दबा-दबा पद चाप साँस साध देह नाँप,
ठिठके से, उटके से चलें मुड़ें इधर उधर।
देखा सब कौन किधर सोता है, जागता है,
सोये कुछ पग पसार करवट लिये से कुछ—
जुड़ रहे थे मन में विजय के पराक्रम के,
विभ्रम के, वैभव के विलास समुल्लास स्वप्न।
सब ओर शान्ति थी, सब ओर निद्रा चल—
साँसों का कोलाहल कहीं नाक बजती थी ;
आँखें कहीं खुलीं खुलीं, सभी जन निद्रागत—
सो रहे थे निर्भय हो, निश्चिन्त प्राणी सब।
द्वार पर किये नियुक्त कृपाचार्य, कृतवर्मा
और स्वयं सज्जितास्त्र मैं अदम्य शक्ति पुंज—
राक्षस सा, दानव सा, दयाहीन मानव सा,
टूट पड़ा सोते उन निरीह पांचालों पर ;
क्रोध प्रतिहिंसा में भरा भरा रक्त लिप्सु,

काल सा छूट पड़ा, टूटा मैं प्रलय प्रचंड ।
खंड-खंड कर डाले अंग-अंग काटे सब,
चीख भी वे सके नहीं, जहाँ थे रुके वहीं,
हिले नहीं, डुले नहीं, चले नहीं, फिरे नहीं,
रक्तधार बह उठी, आर-पार शस्त्रों से ।
सोया था धृष्टद्युम्न उसको भी दिया दंड—
घोट कर मार दिया वार पर वार किया,
खंड खंड कर डाला शिखंडी के तन को ;
चिल्लाकर बोला मैं उत्तमौजा, रह रह—
तेरा काल आ गया, तेरा व्याल आ गया,
मार उसे आगे बढ़ा युधामन्यु पर चढ़ा,
उसका भी काम किया शत्रु को तमाम किया ।
सोती थी पांचाली पाँच वीर पुत्रवाली,
उसके भी सुतों पर टूटा मैं दस्यु वन ;
काट डाले एक एक करके वे पाँच पुत्र,
घूम घूम झूम झूम निर्भय निशाचारी सा ।
वक्र उग्र व्याघ्र सा केहरी सा क्रूर हिंस्र,
घूर घूर मारता था पीड़ित कर अरि विकट ।
जागे तब कुछ लोग, भागे, कहने लगे—
कौन है, कहाँ है वह, कौन था, कहाँ था वह,

किधर गया, कहाँ खड़ा, पकड़ो उसे, मारो उसे,
जाने दो न दुष्ट को, हाय हाय, कितना नीच,
इतना नीच कौन है, कौन है हत्यारा वह ;
चिल्लाते, चीखते, पुकारते, कराहते भी,
जो भी गये द्वार पर हुए वे विनष्ट नर,
कृपाचार्य कृतवर्मा द्वारा वे मारे गये ;
फिर मैं चिल्ला उठा हिसारत व्यग्र, उग्र
सहो रे विजय फल और करो कोलाहल ।
हा हा हा, हा हा हा, हा हा हा, हा हा हा,
कौरवों की पराजय का कितना है सुघड़ फल
पांडवों की विजय का अभिराम परिणाम ।
पूरी हुई प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा, तू सबल,
रक्त दान करता हूँ तुझको तू पेट भर ।
पी ले तू, पीले रक्त, तेरा मैं परम भक्त,
और फिर आग लगा भाग चला राक्षस सा—
लेकर प्रतिशोध भूरि अपनी क्रूर इच्छा की,
प्रवृत्ति की अमानवीय तृष्णा का अक्षत फल,
हिंसा का रौरव नर आश्वस्त छिपकर—
साथियों का हाथ गह भाग चला जीता मैं ।
जल गये शिविर सब क्षण भर में राख हो ।

चिन्ह भी न रहा शेष द्रौपदी को एक छोड़,
बच गई किसी तरह भाग्य की विडम्बना सी
सहने को, कुररी सी दीन आर्त नारी वह,
विजिता भी पराजिता सुहागिनी अपुत्रिणी।
मूर्छित हो पड़ी थी जो किसी तरह बच गई
पहुँचा मैं द्रोण-पुत्र निकट भट सुयोधन के—
गिन रहे थे जीवन के अन्तिम क्षण पड़े-पड़े;
स्वप्न सम था अतीत घूमता था नेत्रों में—
चित्रपट की तरह आता था जाता था,
कभी हँस उठते वह, कभी मुस्कराते वह,
कभी मौन होते, चीख पड़ते अति कष्ट से।
पाप-पुण्य, धर्माधर्म, कर्माकर्म, जीत-हार,
अपनी बात कह कह कर हर्ष शोक करते थे
सोचते वे पड़े-पड़े कष्ट में कराहते,
दुर्योधन सुयोधन करते विवेचना;
पीड़ित करती जो उन्हें रक्त से प्रलिप्त तन।

दुर्योधन

"कितना सुख भोगा मैंने, कितना अब दुःख है—
क्या न किया मैंने, शेष कितना रहा है और—
पाँसा ही पलट गया मेरी चिर साधना का,

कामना का दुर्ग-द्वार भी मैं नहीं तोड़ सका,
मोड़ सका सृष्टि के प्रयत्न अपनी ही ओर।
देता यदि पाँच ग्राम तो क्या यह होता सब ?
निश्चय ही भूल हुई मुझसे प्रमाद हुआ,
गर्व दृप्त मैंने क्यों न जाना यह परिणाम ?
आज सो रहे हैं मेरे मृत्यु के मुख में सब,
और शत्रु मना रहे हैं आनन्द उत्सव—
मोद में, विलास में हैं उन्मत पांडुपुत्र ?
(चौंककर)
× ×
सुन पड़ता अट्टहास किसका, यह कौन होगा ?
चिर पहचाना सा, फिर भी भूलता हूँ क्यों ?
होगा कोई शत्रु-मित्र, होगा कहीं जयोत्सव,
किन्तु अब कारण क्या मेरे पास आने का ?
अट्टहास आ रहा है निकट से निकटतर,
भीम की प्रतिज्ञा क्या और कोई शेष है ?
नहीं नहीं, छेड़ो मत मुझे अब जाने दो,
कुछ नहीं माँगता मैं भोगो प्राप्त वरदान ;
फिर भी यह कोलाहल अट्टहास पास ही से
मुझको सुनाई देता कौन होगा—कौन है ?
कौन तुम ?

अश्वत्थामा

अश्वत्थामा, हा हा हा हा हा,

दुर्योधन

अश्वत्थामा पागल हो गया है अति कष्ट से ;
कहो कहो अश्वत्थामा—

अश्वत्थामा

प्रतिशोध ले लिया ।

दुर्योधन

क्या कहा, कहो तो अरे !

अश्वत्थामा

बदला ले लिया है प्रभो !
मार डाले पांडु .....

दुर्योधन

अरे अर्जुन क्या भीम क्या ?
पांडव क्या पाँचों ही, भीम का कहाँ है सिर,
एक बार पीसने को मन चाहता है हा ?
लाओ उसे अश्वत्थामा, लाओ मुझको तो दो ।
दीखता नहीं है अब, हाथों में ही धर दो,
कितना सुख मुझे मिला कितना उपकार किया,
सत्य तुम द्रोण-पुत्र, कितने महान् हो !

लाओ एक बार लाओ, देखूँ तो कैसा वह ;
कितना बड़ा है और आँख भी है उसमें ?
नहीं नहीं, पैरों के ही नीचे फेंक दो उसे—
डाल दो, पटक दो, और जानूँ आज कैसा है ।
एक बार कंदुक-सा लुढ़का सकूँ मैं बन्धु,
अन्तिम ये इच्छा अरे पूर्ण की है तुमने ;
कितना सुखद काम अश्वत्थामा कर डाला,
लाओ, हुई दृष्टि मन्द, हाथ काँपता है मित्र,
शक्ति क्षीण हो रही है, स्पर्श का ही सुख हो,
मरने से पूर्व एक, एक ही है कामना
पूरी वह तुमने की, अब अनन्त सुख मिला ।

अश्वत्थामा

भ्रम हुआ आपको है—

दुर्योधन

क्या कहा कि भ्रम हुआ ?
तुम्हीं ने तो कहा था कि पांडवों के पुत्र हत

अश्वत्थामा

पांडव नहीं थे प्रभो, गये थे कहीं वे और
मैंने पांचाली सुत, धृष्टद्युम्न, उत्तमौजा,
अशेष अरि वीरों का छिपकर विनाश किया ।

दुर्योधन

भीम भी नहीं थे वहाँ, वह क्या अभी अक्षत हैं ?
अक्षत हैं पांडु पुत्र हाय···अभी जीवित हैं·····

अश्वत्थामा

काट डाले शत्रुगण, शिविर को भस्म किया।

दुर्योधन

पर पांचाली सुत, वे तो···यह क्या किया ?

अश्वत्थामा

मेरे इस कृत्य से क्या आपको मिला न सुख ?
अरे, यह क्या हुआ कि आप हुए मौन, खिन्न ?

× × ×

हर्ष शोक अभिभूत सुयोधन का निधन हुआ ;
ढल गया शीर्ष तन अचेतन निस्पंद,
मंद हुई ज्योति, प्राण उड़ गये तन त्याग ;
हर्ष सब सिमट कर बदला घोर दुःख में
मौन मैं अश्वत्थामा, देखा सब मैंने यह,
ग्लानि उठी मन में और म्लान राक्षसत्व था।
दुर्निवार भाग्य का विधान अपमान लगा।
रक्त सब जल बना देह का, तरल गल,
ठूँठ-सा खड़ा रहा मैं, भ्रमित दरिद्रमति,

प्रेत-सा कुरूप लांच्छना की प्रतिमा कठोर।
एक ध्यान आता था, एक ध्यान जाता था,
रह-रह विडम्बना से अभिभूत भूत सा—
लम्ब देह ग्रह गृहीत विभाविहीन म्लान मुख—
खड़ा रहा देखता मैं दुर्योधन का मरण।
× × ×
मुझे लगा जैसे मैंने कुछ भी न किया हाय,
सान्त्वना न मिल सकी स्वामी को किसी तरह;
इसी काल इसी काल काल सी भयावह एक—
आँधी-सी उठी कि देख खिन्न मन काँप गया;
रथ आता देख पड़ा पथ धूलि थी गगन,
मँथने को मन्मथ-सा दिशाओं को कँपाते हुए;
दूसरे ही यम मानों भीम क्रोध में भरे—
पुत्र प्रतिशोध में दहाड़ते, चिंघाड़ते;
कंपित कर दिङ्मंडल धरणीधर भूधर से;
आये मुझे लीलने को इन्द्र वज्र हाथ ले।
भागने लगा मैं तब, अपने प्राण त्राण हित—
आग बरसाते वह बोले वीर दौड़ते—

भीम

रह रह कृतघ्न, नीच, अश्वत्थामा, गुरुसुत,
छोड़ूँगा तुझे नहीं मैं, तेरा प्राण काल हूँ;

जावेगा किधर ठहर, भागेगा किधर उधर।
अरे पुत्र-घाती, छल छलना प्रमादी रह,
लोक लोकान्त से मैं चौदहों भुवन में भी—
तेरा काल मैं हूँ भीम, युद्ध कर युद्ध कर;
लज्जा नहीं आई तुझे ओ कलुष, निर्लज्ज,
सोते हुए प्राणियों की हत्या कर डालते।
तीन लोक में भी कोई तुझको बचा न सके—
मेरी अब घातिनी गदा से रे अहंमद!

अश्वत्थामा

मैं भी दौड़ता ही गया पहुँचा वहाँ गंगा तट—
व्यास आदि तपस्वियों का लग रहा था जमघट;
किन्तु देखता हूँ क्या कि पीछे-पीछे रथ पर—
श्रीकृष्ण अर्जुन तथा आते हैं युधिष्ठिर।
—"रोक कर भीम को वे कहने अर्जुन से लगे—
तुम ही लड़ सकते हो अरे, कौन्तेय केवल तुम।"
मैंने हो विवश तब अन्तिम वह अस्त्र लिया—
अन्तिम था वह अस्त्र प्रलय विलयकर।
'ब्रह्मशिरा' नामक जो भयंकर था विश्व में;
रुद्र का प्रतापी शर, विश्व अनुतापी शर,
पिता की धरोहर जो मिली थी मुझे नाशकर।

धन्वा पर चढ़ाते देख काँप उठे दिगंतपाल,
काँप उठे घटाटोप मेघों के दिगम्बर ।
अम्बर में क्षोभ हुआ सागर में अनंत रव,
कंपिता धरा थी और भूधर शिखर कंप ।
अर्जुन ने प्रतियोगी भोगी-सा अशेष तीव्र—
तडित सहस्र बज्र घातक-सा पातक-सा,
महानाशी छोड़ा शर प्रलय प्रचण्ड कर ।
चंडकिरणों से अति मंडित गज शुण्ड सा ।
दोनों शर भिड़ पड़े भास्कर से दोनों ओर,
अग्नि स्रोत उगलते से निगलते अपर बल ।
झड़ते स्फुलिंग अग्नि दल के दल पल-पल ।
लड़ रहे थे इन्द्र और शंबर से अम्बर में,
लड़ रहे दिगम्बर में प्रलय दो महाप्रलय ।
व्यास मुनि देख यह नाश पास आके बोले—
"रोको दुर्निवार अस्त्र रोको यह त्रास-कर ।
रोको यह ब्रह्म अस्त्र, रोको प्रलयमाल अस्त्र,
भस्म हुई जा रही है शेष सृष्टि रोको यह ।"
और वह प्रचंड-चंड अस्त्र बल शान्त हुआ—
किसी तरह प्रशान्त हुआ शरों का समुपघात ।
क्रुद्ध तब अर्जुन ने मुझको निरस्त्र किया,

पीसते घसीटते कृष्ण के चले निकट ।
अस्थिर थे युधिष्ठिर भी देख मुझे बोले वे—

युधिष्ठिर

ब्राह्मण का पुत्र यह अर्जुन अबध्य है,
गुरु-पुत्र भाई के समान ही तो होता है,
छोड़ो इसे यह कृतघ्न, नीच और पापी है ;
इसने दुष्कर्म किया, इसने महापाप किया,
भोगने दो अनुताप जीवित रह, भोगने दो,
केवल वह मणि ले लो इसके मस्तक में है—
हन्त, यह दुष्ट है ज्ञान-मणि के अयोग्य ।

अश्वत्थामा

तीर से कुरेदकर निकाली सिर की मणि—
मेरा वह संचित धन अर्जुन ने ले लिया ।
देखता ही रहा मैं विवश मृग की तरह—
डरा हुआ, जीवित भी मरा हुआ, खिन्न मन ।
कुछ भी नहीं कर सका मणिहीन सर्प-सा मैं,
तब से ही घूमता हूँ निशा में, दिवस में ।
आज मुझे लगता है कितना हाय निर्बल हूँ,
कितना असहाय और निरुपाय हो चुका ।

मणि के निकलते ही सभी कुछ ज्ञान गया,
सभी उपभोग्य मेरा कोई और ले गया।
× × ×
याद आता मुझको वह अर्जुन से युद्ध मेरा,
कितना अदम्य और कितना विकट था।
मान गये शत्रु मित्र मेरी शक्ति बल को भी,
छलनी-सा घायल तब किया मैंने अर्जुन।
बाणों से ढक दिया था गगन और पृथ्वी तल,
पाट दिया शरों से कुरुक्षेत्र भूमि को।
विस्मित थे पांडव और कौरव थे समुल्लसित,
उल्लसित पिशाची यक्षराक्षसी प्रवृत्तियाँ।
× × ×
सोचता हूँ आज अब कुछ भी नहीं है शेष—
एक शेष मैं हूँ, एक शेष प्रतिहिंसा है।
अब भी जलती है अग्नि भस्मीभूत तन प्राण,
त्राण है कहीं भी नहीं, फिर रहा म्रियमाण।
मुझको क्यों अमर किया, जीवन का रक्त ले—
मृत्यु से विभक्त किया, कितना दुख दाह है!
× × ×
"किन्तु नहीं, नहीं नहीं, यह क्या मैं मान रहा,
मेरी क्रूर प्रतिहिंसा जागृत है विश्व में।

तू अमर, तू अजर, तू अदेह प्रतिहिंसे !
खप्पर भर रक्त पी, विरक्त क्यों है हो रही ?"

× × ×

हैं हैं यह बोलता है कौन अन्तर से उठ—
मेरे ही स्वरों में भर शक्ति पुंज खर तर ।

प्रतिहिंसा

कौन है जो जला नहीं मेरी विष-अग्नि से रे,
धूँ-धूँ कर जलती हूँ तेरे वन-अन्तर में,
मैं हूँ दावाग्नि और मैं हूँ बडवा निकुञ्ज,
मैं ही सदा रहती हूँ क्रोध वैर-बल में ;
युद्ध से पराजित जन-जीवन में मैं ही हूँ,
प्राणों को कचोटती निचोड़ती समग्र बल ।
मेरा ध्येय हरना है ज्ञान औ' विवेक सब,
मेरा प्रेय करना है मानव को जड़ीभूत ।
दर्प उकसाता है गर्व उपजाता रोष—
दोष बन जाता है विवेक एक मात्र काम ।
अविराम मेरी शक्ति दौड़ती कुमार्ग में है,
विश्राम लेती जब नाश कर देती है ।
कौन में कौन, अरे जानते नहीं हो क्या—
अन्तर में तुम्हारे हूँ, तुम्हारी प्रतिहिंसा हूँ ?

प्रतिशोध भावना हूँ, कामना निबल की।
मेरे कृत्य देख काँप उठते हैं यमराज,
मेरे कृत्य धर्म से परे हैं काल कर्म से,
प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा, एक मात्र प्रतिहिंसा,
विश्व इतिहास में अपूर्व मेरी शक्ति है।
—खोज देखो मन में निहित बीज पाओगे।

अश्वत्थामा

नहीं, नहीं, दूर हटो, दूर हटो, प्रतिहिंसे !
आज यह मेरा पथ तुम से घृणित है !
तुम हो प्रतीक युद्ध, तुम हो घृणा की पुञ्ज,
तुम जहाँ, समाप्त होता मानव विवेक है ;
दूर हटो, दूर हटो, भयभीत मैं हूँ आज।

प्रतिहिंसा

(अट्टहास करके)

डरते हो मुझसे आज, उचित है डरना तो,
फिर भी मुझे प्यार किया तुमने ही विप्रवर !
मेरी उत्पत्ति हुई मन में तुम्हारे ही—
मुझे जन्म देकर ही कृतार्थ हुए तुम हो।

अश्वत्थामा

क्या कहा कि मुझसे उत्पत्ति हुई कैसे कहो ?

प्रतिहिंसा

जीवन में बल का महत्त्व सदा से ही है।

अश्वत्थामा

हाँ हाँ यह मानता हूँ—

प्रतिहिंसा

बल अधिकार में है।
पलता है इच्छा में, शासन में उपजता।
निरंकुश मानव में, दानव बनाने को।
और बल के है पुत्र, गर्व, अभिमान, बैर,
शौर्य के हैं दत्तक सुत युद्ध में विषमतम।
शान्ति चाहते हो तुम, क्रांति की घटा में शुभ्र,
मानव में मानव का अविश्वास छोड़ कर।

अश्वत्थामा

(सोचता हुआ)

तू भी जल, अरी जल, मैं भी जलता ही रहूँ,
तू प्रबल, तू अतुल, प्रतिहिंसे! तू सबल।
तेरी भूख है अनन्त मानव का चिर वसंत—
तेरी जठराग्नि में बनता है भोजनांत।
विश्व के अनेक युद्ध तुझसे होते प्रबुद्ध,

तेरी ही बुभुक्षा को, तेरी ही इच्छा को,
तेरी ही समीक्षा का, करते हैं उद्गिरण ।
मैं प्रतीक तेरा प्रिये नाश हूँ, अँधेरा हूँ,
विश्व का सृजन पुण्य शान्ति महा क्रान्ति काल—
मुझसे है दूर और तुझसे भी हुए चूर,
आ आ, इस नाश में विनाश में करें हास—
हा हा हा, हा हा हा, कितना जयोल्लास,
प्रतिहिंसे, तेरी जय, तेरी जय, मेरी जय—
मेरी जय, तेरी जय, चिर विजय दोनों की ;
मैं अमर, तू अमर, मैं अजर, तू अजर, जय जय !"
जय जय, जय जय, जय जय ।

(*विक्षिप्त हो जाता है, दूर तक स्वर सुनाई देता है ।*)

॥ समाप्त ॥